

मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम् भाग

मति-श्रुतज्ञानकी परोक्षज्ञानरूपताका वर्णन आदिके दो ज्ञान परोक्ष ज्ञान हैं। आदिके दो ज्ञान हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। ये दोनों ज्ञान परोक्षज्ञान कहलाते हैं। परोक्षका अर्थ है जो अक्षसे परावृत्त हो सो परोक्ष। अक्ष मायने अत्मा, उससे जो परावृत्त है, अभिमुख नहीं है अर्थात् इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है वह परोक्षज्ञान कहलाता है। परा और अक्ष इन दो शब्दोंसे यह व्युत्पत्ति हुई। अब धातुके रूपसे व्युत्पत्ति इस प्रकार है, पर और अक्ष, “परैः इन्द्रियादिभिः अक्ष्यते, सिंच्यते, अभिवर्ध्यते इति परोपेक्षम्।” जो परके द्वारा अर्थात् इन्द्रियके द्वारा अक्षित हो, सींचा जाये, जो पुष्टि कर बढ़ाया जाये उसे कहते हैं परोक्षज्ञान। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानमें ये सब बातें पायी जाती हैं। इन्द्रियादिकके द्वारा यह उत्पन्न होता है और सींचा जाता है, पुष्ट किया जाता है। इससे इन दोनों ज्ञानोंको परोक्षज्ञान कहते हैं। आद्य द्विवचन है अर्थात् पहले जो ‘मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्’ यह सूत्र कहा है। उस सूत्रमें प्रथमके दो ज्ञान, ये मतिज्ञान और श्रुतज्ञान हैं। यद्यपि इनमें मुख्यतया आदि तो मतिज्ञान है, पर जब आद्यमें द्विवचन शब्द दिया तो उस आदिकके निकटका जो ज्ञान है वह भी ग्रहणमें आता है। इस तरह ‘आद्ये परोक्षं’ इस सूत्रमें मति, श्रुतज्ञानको परोक्ष बताया गया है। कोई ऐसा सोच सकता है कि केवलज्ञानकी अपेक्षा तो चारों ही ज्ञान आद्य कहलाते हैं। तो ‘आद्य’ शब्दसे यद्यपि चार ज्ञान आते हैं, फिर भी उन आद्यों मेंसे आद्य ज्ञान दो हैं। चूंकि इन चार ज्ञानोंमें एक साथ रह सकने वाले दो ज्ञान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान हैं, इस कारण ‘आद्य’ शब्दसे इस मतिश्रुतका ग्रहण होता है, परन्तु ऐसा तर्क करना ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरहसे तो यह भी सोचा जा सकता है कि मतिकी अपेक्षा तो श्रुत आदिरहित है, वह तो आदिमें नहीं है। इस तरह तो श्रुतज्ञानका ग्रहण न हो सकेगा, इसलिए एक साथ होता है। इस कारण ‘आद्ये’ शब्दसे इन दोका ग्रहण किया गया, यह युक्ति न दी जाय, किन्तु समस्त ज्ञानोंमें आदिमें ये दो ज्ञान लिखे गए हैं। सो आद्ये शब्द कहकर इन दोनों ज्ञानोंको ग्रहण किया जाता है।

व्याकरण रीतिके अनुसार सूत्ररचनाकी निर्दोषताका विवरण अब यहाँ कोई शंका कर सकता है कि जब आद्ये में द्विवचन शब्द दिया है तो परोक्षके लिए भी द्विवचन शब्द देना चाहिए, “आद्ये परोक्षे” ऐसा सूत्र बनाना चाहिए, क्योंकि उद्देश्यके समान उसकी विधेयमें संख्या होनी चाहिए। यहाँ लिंग भी दोनों शब्दोंका एक है और संख्या भी दोनोंमें एक-सी ध्वनित हो गई है। तो वचन भी अगर एक-सा लग जाये तो अच्छी प्रकारसे सामानाधिकरण्य बन जाये अर्थात् दोनोंका एक-सा बर्ताव बन जायेगा। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ विधेय जो परोक्ष शब्द है उसका सम्बन्ध ज्ञानम्के साथ है, जो

पहले मत्यादि सूत्र कहा गया है उसमें जो ज्ञानम् शब्द है उसकी ही अनुभूति आती है तब अर्थ बनता है आद्ये परोक्षं ज्ञानं आदिके दो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं। वचनभेद भी हो तब भी सामानाधिकरण्य माना जा सकता है; अर्थात् समान अधिकरणमें दोनों लाये जाते हैं। जैसे कोई उच्चारण करे तपःश्रुते साधोः कार्यम्। तप और श्रुत ये दोनों साधुके कार्य हैं तो यहाँ उद्देश्य तो एक वचन है और विधेय द्विवचन है, फिर भी दोनोंका आधार साधु है। इसी प्रकार आद्ये द्विवचन है, परोक्षं एकवचन है, फिर भी दोनोंका आधार एक ज्ञान है। अथवा जहाँ सिद्ध किया जा रहा वह है। यदि कोई हठ करे कि हमको तो 'परोक्षे' इस प्रकार द्विवचन शब्द कहना ठीक लगता है तो यदि सूत्र 'आद्ये परोक्षे' ऐसा बना दिया जाये तो भी उसके साथ प्रमाण अथवा ज्ञानम् शब्द कहना आवश्यक रहेगा ही तो इससे सूत्र और बढ़ गया। सूत्रका लाघव होना बुद्धिमानोंमें प्रशंसनीय कहा गया है। तो आद्ये परोक्षं कहनेसे ज्ञानम् अथवा प्रमाणकी अनवृत्ति भी आयेगी। सूत्र लाघव हो गया। अतः जो सूत्रकारने 'आद्ये परोक्षं' सूत्र कहा है कि वह बहुत युक्तिसंगत है।

आद्ये परोक्षं सूत्रमें प्रमाणं और ज्ञानकी अनुवृत्तिका लाभ अब यहाँ कोई ऐसी शंका कर सकता है कि यहाँ प्रमाणं अथवा ज्ञानम्की अनुवृत्ति करनेसे लाभ क्या? क्या बात सिद्धकी जा रही है? तो उसका समाधान सुनो सूत्रसे तो इतना ही अर्थ होता है ना, कि आदिके दो परोक्ष हैं, अथवा यों कह लीजिए कि आदिके दो ज्ञान परोक्ष है, मगर वे आदिके दो ज्ञान परोक्षज्ञान ही हैं, प्रमाण नहीं हैं, ऐसा निश्चय करनेपर प्रमाणका लक्षण जो लोग अन्य-अन्य प्रकारसे मान रहे थे उनका निराकरण हो जाता है। कोई तो अज्ञानके प्रमाण कहते थे, कोई इन्द्रियको, कोई सन्निकर्षके, लेकिन इन जड़ पदार्थोंका परोक्ष प्रमाण कह ही नहीं सके हैं। और प्रमाण शब्दकी अनुवृत्ति करनेसे यह सिद्ध होता है कि परोक्षज्ञान प्रमाण है, अप्रमाण नहीं है। इस तरह सूत्रका अर्थ होता है आद्ये ज्ञाने परोक्षं प्रमाणम्, आदिके दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। आदिके दो ज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं यहाँ। श्रुतज्ञानमें तो श्रुतज्ञान ही आता है, परार्थानुमान अथवा आगम, किन्तु मतिज्ञानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान तर्क, स्वार्थानुमान तथा उनके और प्रभेद अवग्रह आदिक ये सब परोक्षज्ञान कहलाते हैं।

प्रत्यक्षज्ञानकी तरह परोक्षज्ञानमें भी निरालम्बताका अभाव यहाँ क्षणिकवादी बौद्ध कह रहे हैं कि प्रमाण तो वास्तवमें प्रत्यक्षज्ञान ही है, क्योंकि वह वास्तविक अर्थको विषय करता है और तभी उसे स्पष्ट ज्ञान कहते हैं, किन्तु जो परोक्षज्ञान है, पदार्थका स्पष्ट बोध नहीं करता है अथवा जब वस्तुका सम्बन्ध नहीं रहत उस समय परोक्षज्ञान बनता है। तो ऐसा यह अस्पष्ट वास्तविक अर्थको विषय करने वाला नहीं है। जो वास्तविक अर्थको विषय न करे वह विशद नहीं होता, निर्मल ज्ञान नहीं होता। जैसे कि खेल खेलता हुआ बालक अपने मनके अनुसार स्वांग रचता है, स्वांगमें कभी राजा, सेनापति, मंत्री आदिक बनता है तो तद्विषयक जो कुछ भी ज्ञान हो रहा, प्रत्यक्ष तो वह है नहीं, स्पष्ट भी है नहीं तो वहाँ जो कुछ भी अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है वह वास्तविक राजा आदिकको विषय तो नहीं कर रहा। ऐसे ही जितने भी अस्पष्ट ज्ञान होते हैं उन पदार्थोंको विषय नहीं करते। इसी

कारण अस्पष्ट ज्ञानोंको निरालम्ब ज्ञान कहा है। तो परोक्ष कोई ज्ञान नहीं है, प्रमाण नहीं है केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और उसके निकटवर्ती होनेसे गौण रूपसे अनुमानको भी प्रमाण कहा जा सकता है, किन्तु यह वास्तविक ज्ञान नहीं हैं उक्त आशंकाके समाधानमें कहते हैं कि वास्तविक पदार्थको विषय न करनेसे निरालम्ब अगर मान लिया जाये और यों परोक्षज्ञानको अप्रमाण कह दिया जाये तो इस तरह कभी-कभी प्रत्यक्ष भी तो निरालम्ब हो जाता है, वह भी अप्रमाण बन जायेगा। जैसे आँखमें कुछ अंगुली गड़ा लेनेसे चन्द्र दो या अनेक दिखने लगते हैं तो चन्द्र तो वास्तवमें एक ही है, किन्तु दिखने लगे दो तो दो चन्द्रोंका जो ज्ञान हुआ है उस ज्ञानको निरालम्ब ही तो कहेंगे। याने दो चंद्र नहीं हैं। यदि वहाँ बौद्ध यह उत्तर देनेका प्रयास करें कि भले ही एक बार एक चन्द्रमें दो दिख गए तो एक जगह प्रत्यक्षमें गड़बड़ी होनेसे सारे प्रत्यक्ष ज्ञान गड़बड़ तो नहीं कहे जा सकते। तो यहाँ भी यह ही उत्तर समझ लें। अविशदज्ञानोंमें एक मनके राज्यकी बात अगर निरालम्ब हुई तो एक परोक्षज्ञान निरालम्ब हो गया तो सारे परोक्षज्ञानोंको निरालम्ब नहीं कहा जा सकता। भ्रान्त ज्ञान प्रत्यक्षमें भी हो जाता परोक्षमें भी हो जाता। कोई ज्ञान भ्रान्त रहे तो इससे सभी ज्ञानोंको भ्रान्त मान लिया जाये, यह युक्त नहीं। अब यहाँ क्षणिकवादी अनुमान रखकर बोलते हैं कि सम्पूर्ण परोक्षज्ञान अनालम्ब हैं; अर्थात् जानने योग्य विषयोंसे रहित हैं, क्योंकि वे अविशदरूपसे जानते हैं। परोक्षज्ञान वास्तविक अपनी कल्पनामें आये हुए राज्यादिक विभवोंको स्पर्श भी नहीं करते, इस कारण कोई भी परोक्षज्ञान प्रमाण नहीं है, ऐसी आशंका होनेपर समाधान दिया जाता है कि यों तो प्रत्यक्षज्ञानमें भी कह सकते। प्रत्यक्षज्ञान अपने ग्राह्य अर्थको विषय नहीं करता, क्योंकि स्पष्ट ज्ञान होने से। स्पष्ट ज्ञानोंमें कई ज्ञान ऐसे हैं कि जो ग्राह्य विषयका स्पर्श नहीं करते। जैसे सीपमें चाँदीका ज्ञान हो गया ज्ञान तो स्पष्ट हो गया, आँखोंसे देखा, पर वहाँ चाँदी कहाँ है? ग्राह्य विषय तो नहीं है, इससे प्रत्यक्षज्ञान भी सब अप्रमाण बन जायेगा। यदि यह उत्तर हो कि एक प्रत्यक्ष अगर अप्रमाण हो गया तो सारे प्रत्यक्ष तो अप्रमाण न हो जायेंगे। तो यही उत्तर इस प्रसंगमें है कि यदि कोई परोक्षज्ञान अप्रमाण हो गया तो सारे परोक्षज्ञान अप्रमाण हो जायेंगे।

सर्वज्ञानोंमें सामान्य विशेषात्मक वस्तुकी विषयभूतता बौद्ध यहाँ ऐसा भी कह सकते कि भाई अनुमान प्रमाण द्वारा जो कि परोक्षज्ञान है उससे अवस्तुभूत सामान्य ही जाना जाता। सामान्य जानकर फिर चूँकि सामान्यका विशेष अर्थके साथ सम्बंध हो जाता है, इसलिए अनुमानसे अर्थमें प्रवृत्ति बन जाती है। और जब-जब अर्थमें प्रवृत्ति बने तब-तब उस ज्ञानके प्रमाण कहा जाता है तो अनुमान अस्पष्ट होते हुए भी ग्राह्य अर्थसे सहित परम्परासे बना। इस विषयमें उत्तर यह है कि न केवल सामान्य कोई वस्तु है, न केवल विशेष वस्तु है। जब पदार्थ जाना जाता है तो सामान्य विशेषात्मक ही पदार्थ जाना जाता है। अनुमान प्रमाणसे जब गुणपर्याय है तो सीधा ही उस वस्तुको प्राप्त करता है और अर्थक्रिया भी बन जाती है। तो अनुमान प्रमाण ग्राह्य अर्थसे रहित नहीं हैं हॉ उसे अगर परम्परासे सम्बंध बनाकर उसका विषय अवस्तु साबित करें, जैसे कि अनुमानसे जाना

सामान्य, सामान्यका सम्बन्ध है विशेष से, यों अनुमान अर्थग्राही बना, ऐसा यदि कहा जाये तो जब कभी मणिप्रभामें मणिका ज्ञान होता तो वह भी प्रमाण ज्ञान होना चाहिए। किसी संदूकमें मणि रखी हो, प्रभा फैल रही है, उसमें एक छोटा-सा छिद्र है, उस छिद्रमें दूरसे प्रभा झलक रही है तो उतनी प्रभाका प्रत्यक्ष तो कर लो, पर ग्राह्य अर्थ कहाँ है? वह तो प्रभा है, मणि नहीं है। तो ऐसी अनेक अनिष्ट बातें प्रत्यक्षज्ञानमें भी हो जायेंगी। मणिप्रभामें होने वाला मणिज्ञान यदि अनुमान प्रमाण माना जायेगा, उसे प्रत्यक्ष न मानेंगे। तब तो अर्थकी प्राप्तिसे अनुमानमें प्रमाणपना आता है, ऐसी व्यवस्था न बन सकेगी और उस व्यवस्थाके बनानेमें कोई दृष्टान्त भी न मिल सकेगा। अर्थकी प्राप्तिसे अनुमान प्रमाण बनता है। इसमें मणिज्ञान दृष्टान्त नहीं बन सकता। क्योंकि वह दृष्टान्त साध्यसे रहित है, क्योंकि वहाँ अर्थप्राप्ति नहीं है। मणिकी प्रभामें जो मणिका ज्ञान बना वह प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, क्योंकि मणि तो हाथ न लगी, फिर स्थूल दोष है यह कि क्षणिकवादी पदार्थोंको क्षणवर्ती मानते हैं। वहाँ पहले क्षणमें तो जाना, दूसरे क्षणमें अभिलाषा हुई, तीसरे क्षणमें प्रवृत्ति की, चौथे क्षणमें चीज पायी गई, तो ऐसी क्रिया क्षणिक ज्ञानसे होना असम्भव है।

देखो पहले भी ज्ञान हुए, मगर वहाँ अर्थप्राप्ति तो नहीं है। अर्थप्राप्ति तो तब मानते हैं क्षणिकवादी जब कि अर्थका विनाश हो जाता है। तो जैसे अर्थके अभावमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं होता और उसे इस कारण प्रमाण माना जाता, इसी तरह अर्थके अभावमें अनुमान प्रमाण भी नहीं होता। इस विधिसे अनुमान भी प्रमाण माना जाता। यदि क्षणिकवादी यह कहें कि अनुमान प्रमाण भले ही अवस्तुभूत सामान्यको ग्रहण करता, परन्तु वह अर्थकी प्राप्ति करा देगा तो यह तो बड़े पक्षपातकी बात हो गई। अरे अवस्तुको तो विषय करे कोई ज्ञान और अवस्तुको प्राप्त कर दे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? सभी वस्तुएं सामान्यविशेषात्मक हैं। तो प्रत्यक्ष सामान्यविशेषात्मक वस्तुको जानता है और अनुमान भी जानता है। हाँ जब यह सिद्ध हुआ कि स्मृति आदिक श्रुतज्ञान पर्यन्त सभी ज्ञान अस्पष्ट कहलाते हैं, फिर भी अपना और ग्राह्य अर्थका आलम्बन सबमें मौजूद है। यदि अर्थग्राही न माना जाये स्मरण आदिकको तो अटपट बोध होने लगेगा, स्मरण कुछ किया जायेगा, चीज कुछ होगी, लेकिन व्यवस्था सही देखी जाती है। उस स्मरण ज्ञानमें जिसका स्मरण किया जाता है वही विदित होता। सो सभी ज्ञानोंमें जिस-जिस अर्थका विषय होता वह-वह ज्ञान उस अर्थकी प्राप्ति कराने वाला होता है।

‘आद्ये परोक्षं’ सूत्रके निर्दोष अर्थका उपसंहार इस सूत्रका अर्थ यह बना कि आदिके दो ज्ञान याने मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। परोक्षज्ञान अप्रमाण नहीं होता। परोक्षका निराकरण कैसे करें? जिन दार्शनिकोंने परोक्षज्ञानका निराकरण किया है वे संगत बुद्धि नहीं रखते। प्राप्य और आलम्बन दो कारण मानना व्यर्थ है। अर्थका ज्ञान करा देना ही प्राप्त करना कहलाता है। उस चीजको हम हाथमें ले सकें या न ले सकें उससे ज्ञानकी प्रमाणता अप्रमाणता निर्भर नहीं है, किन्तु पदार्थका सही ज्ञान करा दे यही तो कहलाता है आलम्बन और यही कहलाता है प्राप्ति, इससे

विषयको ज्ञानका आलम्बन, कारण, भले ही मान लें, किन्तु प्राप्तिका अर्थ इससे अत्यन्त विलक्षण नहीं है। जैसे कि कोई चन्द्रमा वृक्षके सहारेसे दिखाया जाता है कि देखो इस वृक्षके पाससे चन्द्रमा है, तो अलम्बन ही तो रहा और ऐसे अविशदरूपसे पदार्थका आलम्बन परोक्षज्ञानमें है, सो उस पदार्थका ज्ञान करा दिया, बस यही प्राप्ति है और इसीसे ही ज्ञानमें प्रमाणता आती है। यों आदिके दो ज्ञान परोक्ष हैं, यह बात युक्तिपूर्वक सिद्ध हो जाती है। अब द्वितीय प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणके सम्बन्धमें विवरण करते हैं।

प्रत्यक्षमन्यत् ॥ १२ ॥

सूत्रोक्त शब्दोंके एकवचनान्त प्रयोग होनेकी समंजसता अन्यत् प्रत्यक्षं अर्थात् परोक्षके सिवाय अन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अन्य ज्ञान कौन हुए? अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यहाँ एक आशंका होती है कि जब तीन ज्ञान हैं यहाँ तो ऐसा सूत्र बनाना चाहिए कि प्रत्यक्षाणि अन्यानि, क्योंकि तीन ज्ञान होनेसे बहुवचन होना ठीक है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यहाँ अन्यत् शब्दसे ज्ञानका ग्रहण होता है। जो ज्ञान पहले सूत्रमें एकवचन शब्दसे कहा गया था मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं, उस ही ज्ञान शब्दके ऊपर यह सूत्र रचा गया है। वही ज्ञान शब्द प्रत्येकमें अन्वित होता है। तो अन्वित अन्यत् ज्ञानं अर्थात् अन्य ज्ञान और प्रत्यक्षके साथ प्रमाणं एकवचन शब्दकी अनुवृत्ति होती है। इस कारण यह अर्थ हुआ कि परोक्षसे अन्य बचा हुआ अवधि, मनःपर्यय, केवल इन तीन अवयवोंका जो समुदाय है, ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। इस कारण उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है वह व्याकरणसे पूर्णतया संगत है। जातिकी अपेक्षा एकवचन बोलनेकी सर्वत्र प्रसिद्धि भी है। जैसे गेहूं सस्ता है, चावल तेज है तो यद्यपि कोई एक गेहूँके दानेकी बात तो नहीं होती। है बहुतसे गेहूँकी बात, मगर जाति अपेक्षा एकवचन हो जाता है। इसी प्रकार 'ज्ञान' जातिकी अपेक्षा एकवचन होनेसे कोई विरोध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यक्षं इसके साथ प्रमाणंकी अनुवृत्ति है तो यह भी एकवचनमें ठीक है। कोई यहाँ ऐसा सोच सकता है कि इससे पहले सूत्रमें फिर 'आद्ये' शब्द कहकर द्विवचन क्यों बनाया? वहाँ भी एक ही वचन कहते। तो वहाँ एक यह आपत्ति आती थी कि यदि एकवचन कहते तो आदिका केवल एक मतिज्ञान ही ग्रहणमें आता और मति, श्रुत दोनों लेने हैं अन्यथा दो दोष हैं। श्रुतज्ञान परोक्ष नहीं रहता और इस सूत्रके आनेसे प्रत्यक्ष बन जाता, इस कारण जुदे कोई प्रामाणादिककी अपेक्षा एकवचन दिया वह ठीक है।

सूत्रोक्त पद और पदानुवर्तनसे दर्शन व मिथ्याज्ञानोंमें प्रमाणत्वका निरसन करते हुए प्रत्यक्षके स्वरूपका प्रकाशन इस सूत्रमें अन्यत् ज्ञानं अर्थात् अन्य ज्ञान ऐसा कहनेके कारण अवधिदर्शन व केवलदर्शन ग्रहण न किया जायेगा, क्योंकि वह दर्शन है। यह ज्ञानका प्रकरण है और प्रत्यक्षके साथ प्रमाणं कहा है तो प्रमाणके सम्बन्धमें यह सिद्ध होता है कि अवधि आदिक अप्रमाण नहीं हैं, किन्तु प्रमाण हैं। साथ ही यह सम्यक्का प्रकरण है और सम्यक्पदका अधिकार चला आनेसे कुअवधिज्ञानका

भी निवारण हो जाता है और प्रत्यक्षं शब्द कहनेसे यह परोक्ष नहीं है, ऐसा दृढ़ निर्णय हो जाता है। इस प्रकार इन शब्दोंकी रचनामें यह बात स्पष्ट ध्वनित हो गयी कि शेषके तीन ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाते हैं। प्रत्यक्ष उसे कहते हैं जो आत्माका आश्रय लेकर उत्पन्न है। यद्यपि आत्माका आश्रय सभी ज्ञानोंमें होता है, लेकिन जहाँ आत्मासे भिन्न इन्द्रिय और मनकी भी अपेक्षा होती है उसे केवल आत्मासे उत्पन्न हुआ नहीं कहा जाता। वह परोक्षज्ञान है जो इन्द्रियके द्वारा सिंचित होता है। प्रत्यक्षकी व्युत्पत्ति है अक्षं आत्ममानं प्रतीत्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षं। प्रत्यक्षका लक्षण अकलंकदेवने यह स्पष्ट किया है कि जो स्पष्ट है, साकार है, सम्यक् है और द्रव्यपर्याय सामान्य विशेषात्मक अर्थ और स्वयं अपनेके जानने वाला है वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इस प्रत्यक्षके लक्षणमें मुख्यता है द्रव्यस्वरूप अर्थ और स्वयं अपना वेदन करनेकी अर्थात् जो द्रव्यस्वरूप अर्थ और अपने आत्माका जो वेदन करता है सो प्रत्यक्ष है। शेष तो इसके साथ विशेषणरूपसे है, जिन विशेषणोंका होना भी अनिवार्य है। अब यहाँ यदि प्रधान रूपसे कहा जाये कि द्रव्य स्वयं अर्थ वह स्वयं अपना वेदन करे सो प्रत्यक्ष है, तब तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये गर्भित हो ही नहीं सकते, क्योंकि इस प्रकार के स्पष्ट वेदन मतिज्ञान श्रुतज्ञानमें नहीं हैं। हाँ यदि गौणरूपसे द्रव्यस्वरूप अर्थात् वेदन कहा जाये तो वहाँ व्यवहारनयसे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आ सकता है और इसी कारण उन्हें सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है मतिज्ञान को। तो भले ही मतिज्ञान सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष रहे, किन्तु यहाँ तो प्रधानरूपसे प्रत्यक्षके लक्षणका वर्णन है, इस कारण सांख्यवहारिक प्रत्यक्षको प्रत्यक्ष नहीं कहते, क्योंकि परोक्ष है। स्मृति आदि भी मतिज्ञान हैं और श्रुतज्ञान तो सम्पूर्ण रूपसे स्पष्ट है, इस कारण मतिज्ञान प्रत्यक्ष है ही नहीं। अब प्रत्यक्षके लक्षणमें जो साकार विशेषण दिया है याने जो साकार वेदन है वह है प्रत्यक्ष याने द्रव्यार्थ आत्मवेदन जहाँ स्पष्ट और साकार है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो साकार शब्दके देनेसे दर्शनका निवारण हो गया, अर्थात् अवधिदर्शन और केवलदर्शन, ये प्रत्यक्षज्ञान नहीं हैं, क्योंकि वे निराकार हैं। अंजसा, यह विशेषण देनेसे सम्यक्पदका अधिकार बनता है, इस कारण विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान) का निवारण हो जाता है। इस प्रकार जो द्रव्यादि विषयक है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

केवलज्ञानमें सकलप्रत्यक्षत्वका दिग्दर्शन यहाँ इस प्रत्यक्षके लक्षणमें केवलज्ञान भले प्रकार सिद्ध होता है, क्योंकि केवलज्ञान तो पूर्णतया स्पष्ट है। ज्ञेयाकार अनिवारित होनेसे साकार है, सम्यक् है और एक साथ ही समस्त द्रव्योंका जाननहार है। सम्पूर्णरूपसे पदार्थोंको जाननेके कारण अधिक पूज्य पुरुषोंने यह केवलज्ञान प्रत्यक्ष तो एक आदर्श और अवर्णनीय है। यह केवलज्ञान क्रमसे अर्थको नहीं जानता, किन्तु एक साथ ही समस्त सत् इसमें प्रतिभासित होते हैं। इन्द्रिय मन आदिक कारणोंसे भी अतिक्रान्त है। इन्द्रिय मन उनके हैं ही नहीं, अथवा उनकी अपेक्षा होती ही नहीं। यह केवलज्ञान निर्दोष है और समस्त कर्मकलंकोंसे रहित है। ऐसा प्रत्यक्षज्ञान अथवा सर्वज्ञानकी सिद्धि इस तरह होती है कि ऐसा यह योगियोंका प्रत्यक्ष सुव्यवस्थित है, क्योंकि इसमें बाधक कारणोंका अभाव है। जैसे कि जब स्वयंको प्रत्यक्ष जाननेमें जो स्वसम्वेदन होता है उसमें बाधक कारण नहीं है, अतएव

प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार केवलज्ञानकी सिद्धिका कोई बाधक कारण नहीं है। प्रत्यक्ष प्रमाण सामान्यरूपसे सिद्ध किया ही गया है। ऐसा उसमें किसीको विवाद नहीं। उस प्रत्यक्ष प्रमाणके सम्बन्धमें यह बताया जा रहा है कि यह योगियोंका प्रत्यक्ष तो परमयोगी जिनको केवलज्ञान एक साथ समस्त पदार्थोंको विषय करता है, क्रमरहित है और इन्द्रियके अधीन नहीं है इसका कारण यह है कि जब समस्त कर्मकलंक दूर हो गए, निर्दोषता प्रकट हो गई तो अब यह पराधीन नहीं रह सकता, अतएव एक साथ समस्त सत्को विषय करेगा। कोई इसमें कलंक होता ही नहीं है, क्योंकि कलंक तो पर-उपाधि है। जहाँ पर-उपाधि लगी हुई है वहाँ कभी पर-उपाधि न रहे, क्या यह भी होता है? तो जब सम्पूर्ण ज्ञानावरणका सदाके लिए क्षय हो गया, तो केवलज्ञान तो सूर्यके समान एकदम पूर्ण स्पष्ट होता हुआ समस्त पदार्थोंको विषय करने वाला होता है। चूंकि कर्मकलंक न रहे, इस कारण वह ज्ञान एक साथ ही समस्त पदार्थोंको जानने वाला होता है। चूंकि कर्मकलंक नहीं रहे, इस कारण उस ज्ञानको अब इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। इस प्रकार सर्वज्ञका प्रत्यक्ष ज्ञान क्रमरहित है, एक साथ सबको जानता है। इन्द्रियकी आधीनता नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें प्रत्यक्षत्वकी सिद्धिकी निर्बाधता यदि कोई यह कहे कि प्रत्यक्ष ज्ञानसे तो कोई सर्वज्ञा दिखता ही नहीं है, तब तो बाधक प्रमाण अपने आप आ गया। ऐसी शंका करने वाले जरा यह सोचें कि इस देश और इस कालमें क्या सर्वज्ञ परमात्मा नहीं दिखता? इस कारण सर्वज्ञका अभाव है या सब देश, सब कालमें सर्वज्ञ नहीं है, इस कारण सर्वज्ञका अभाव है। यदि कहो कि इस देश इस कालमें नहीं है तो ठीक है। यहाँ नहीं है। यहाँ न होनेसे सब जगहका अभाव तो नहीं सिद्ध हो सकता। अरे यदि कहो कि सभी देश और सभी कालोंमें नहीं है तो क्या तुमने यह परख लिया कि सब देशोंमें सर्वज्ञ नहीं है? अगर तुमने सब देश जान लिया और सब काल जान लिया तो तुम ही सर्वज्ञ हो गए। और सर्वज्ञका प्रमाण अपना अनुभव बता सकता है, क्योंकि ज्ञानकी ऐसी कला है कि वह निरन्तर सत् पदार्थको जानता रहे? अब उसमें क्रम उत्पन्न करने वाले कलंक और इन्द्रियाँ जब जीवित हैं तब ज्ञानकी एक दुर्दशा होती है और जहाँ उपाधि नहीं है, आवरण नहीं है, वहाँ फिर क्या वजह है कि ज्ञान पदार्थोंको क्रमसे जाने या थोड़ा जाने। सकल प्रत्यक्षज्ञान परमयोगी जनोंके होता है और वह समस्त सत्को एक साथ जानने वाला है। वह केवलज्ञान तो सम्पूर्ण प्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष है, क्योंकि अवधिज्ञान जीवकी अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम है, क्षय नहीं है। क्षयोपशममें यह होता है कि सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावी क्षय व उन्हीं उपशम और देशघाती स्पर्धकोंका उदय तो चूंकि क्षयोपशममें उदय भी चलता है, इस कारणसे सम्पूर्ण ज्ञान नहीं बन सकता। तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान ये दो तो एकदेश प्रत्यक्ष हैं, किन्तु केवलज्ञान सर्वदेश प्रत्यक्ष है।

मात्र आत्माके आश्रयसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानको प्रत्यक्षज्ञानका लक्षण स्वीकार न करने वाले शंकाकार द्वारा अभिमत कल्पनापोढ लक्षणकी मीमांसा यहाँ क्षणिकवादी आशंका करते हैं कि

प्रत्यक्षका लक्षण जो यह कहा है कि जो आत्मा आलम्बन लेकर ज्ञान हो सो प्रत्यक्ष है। यह लक्षण दुरुह है। प्रत्यक्षका लक्षण तो यह है कि जो कल्पनासे रहित है, और जो भ्रान्तिसे रहित है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। ऐसी आशंका करने वाले बतायें कि कल्पनाका अर्थ क्या मानते हो? क्या कल्पनाका अर्थ यह है कि जो अस्पष्ट रूप प्रतीति है सो काल्पनिक है अथवा कल्पनाका अर्थ यह है कि जो स्व और अर्थका निश्चय करे सो काल्पनिक है अथवा क्या कल्पनाका यह अर्थ है कि जो शब्दयोजनासे सहित होकर ज्ञान बने सो कल्पना है अथवा क्या कल्पनाका यह अर्थ है कि शब्दका संसर्ग हो सके इस योग्य जो प्रतिभास हो सो कल्पना है। इन चार प्रकारके विकल्पों में से जो प्रथम दो विकल्प हैं कि अस्पष्ट प्रतीति होना सो कल्पना है अथवा स्व और पदार्थका निश्चय होना सो कल्पना है। इस लक्षणमें यह विसम्वाद न बनेगा, पर इन लक्षणोंको न कहकर और-और प्रकारके लक्षण कहे जायें, जैसे जो शब्द योजनासे सहित ज्ञान है सो कल्पना है अथवा शब्द संसर्ग योग्य जो प्रतिभास है सो कल्पना है या वस्तु स्पर्शन न करने वाली जो जानकारी है सो कल्पना है आदिक अन्य-अन्य विरुद्ध लक्षणोंको बताये तो वह विवेक नहीं है। क्षणिकवादियोंने स्वयं यह माना कि जो कल्पनासे घिरे हुए अर्थका स्पष्ट प्रतिभास नहीं हो पाता, इससे ही स्पष्ट है कि कल्पना कोई भी स्पष्ट नहीं हुआ करती। तो यही बात बन गई कि जो अस्पष्ट प्रतीति है सो कल्पना है।

प्रत्यक्षको अस्पष्टप्रतीतिलक्षणात्मक कल्पनासे अपोढ माननेमें सिद्धसाधनता यदि इस प्रमाणमें कोई पक्षपाती यह कहे कि अस्पष्ट ज्ञान क नाम कल्पना नहीं है, क्योंकि स्वप्नमें भी होती तो है कल्पना, मगर स्पष्ट प्रतीति होती हुई होती है। तब यह बात न रही कि जो भी कल्पना होती है वह अस्पष्ट प्रतिभास वाली होती है। देखो स्वप्नमें कल्पना तो बन गई, पर स्पष्ट प्रतिभास चल रहा। इसके समाधानमें यह समझना चाहिए कि स्वप्नमें जो जानकारी हो रही उसे तो शंकाकारने इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है, और जब इन्द्रियजन्य ज्ञान माना है तो प्रत्यक्ष हो गया। फिर अस्पष्ट प्रतिभासका नाम कल्पना है इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष क्यों दिया जा रहा? वह तो कल्पना ही नहीं है। जो स्वप्नमें हुई उसे तो बौद्ध इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मानते हैं और उनको इस तरह प्रत्यक्ष मानते हैं जो कि सोनेसे पहले जागृत अवस्थामें जो इन्द्रियका व्यापार चल रहा था उसके ही अनुकरणमें यह कल्पना बनाता है तो यों बौद्धमतानुसार स्वप्नमें होने वाली जानकारी जो स्पष्ट चल रही है वह निर्विकल्प प्रत्यक्ष बना, तब यह सिद्ध हुआ कि कल्पनाका यही लक्षण ठीक है कि जो स्पष्ट प्रतीति हो सो कल्पना है। यहाँ शंकाकार कहते हैं कि अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है इस लक्षणमें अव्याप्ति दोष है। देखो कहीं बालूका रेत हो या फूला हुआ काँस हो उसको देखकर लोगोंको यह भ्रम हो जाता है कि यह जल है। तो उस मरीचिकामें जलकी कल्पना हुई है और स्पष्ट ज्ञान चल रहा है। तो कल्पनामें भी स्पष्टता तो आ ही गई। इसके समाधानमें यह समझना कि वहाँ जलका ज्ञान स्वयं स्पष्ट नहीं है। बात यह हुई है कि चक्षुइन्द्रियसे जो जाना गया पदार्थ है उसमें जो जलज्ञान हो रहा सो जो स्पष्टता चल रही, उसका जलज्ञानमें आरोप कर दिया गया, और यों वह स्पष्ट प्रतिभास माना जाने

लगा। वस्तुतः तो वह अस्पष्ट ज्ञान है, इस कारण स्पष्ट प्रतीति कल्पना है। इस लक्षणमें कोई दोष नहीं आता और न इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष होता है, क्योंकि कोई भी कल्पना ऐसी नहीं जिसमें अस्पष्टता न हो। अब यहाँ बौद्ध शंका करते हैं कि देखो जब दूरसे वृक्ष, घर, मनुष्य आदिक कुछ देखे जाते हैं तो है तो कल्पनारहित ज्ञान, समीचीन ज्ञान है, मगर वहाँ भी अस्पष्टता तो देखी जा रही है तो कल्पनारहित समीचीन ज्ञानमें जब अस्पष्ट देखा जा रहा है तो कल्पनाका लक्षण अस्पष्ट प्रतिभास करना सही तो न बना। समाधानमें कहते हैं कि बात वहाँ यह है कि दूरसे देखकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान हो उस प्रत्यक्ष ज्ञानमें जो झूठा विकल्पज्ञान है उसकी अस्पष्टताके साथ इस ज्ञानको एकत्वका आरोप किया गया है याने इन्द्रियसे जितना जाना उतना तो वह स्पष्ट है। अब उसके आगे जो जाना जा रहा कि इतना बड़ा, इतना लम्बा, इतना छोटा वह विकल्पज्ञानकी अस्पष्टता है तो विकल्पज्ञानकी अस्पष्टताका प्रत्यक्षके साथ एकत्वका आरोप हुआ है, इसलिए वह प्रत्यक्ष अस्पष्ट प्रतीत हो रहा है। और इस कारण कल्पनाके लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष नहीं आया। यदि कल्पनारहित ज्ञान अस्पष्टताका अभाव हो तब ही तो दोष आयेगा। इससे कल्पनाका अन्य-अन्य लक्षण न कहकर यह लक्षण कर लेना चाहिए कि जो अस्पष्ट प्रतीति है सो कल्पना है।

स्वपरनिश्चायक लक्षणात्मक कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष माननेमें असत् प्रलापकी स्पष्टता कल्पनाके दूसरे लक्षणपर विचार करें। जो द्वितीय विकल्पमें कहा गया था कि अपना और पदार्थका निश्चय करनेका नाम कल्पना है, और ऐसा कल्पनासे रहित जो ज्ञान होगा वह प्रत्यक्ष है। ऐसा प्रत्यक्षका लक्षण करना बिल्कुल सदोष हो गया। जो यह लक्षण किया जा रहा कि कल्पनासे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता, और ऐसा कल्पनासे रहित बना रहे हो कि जहाँ स्वयं और पदार्थका निश्चय हो उससे रहित ज्ञान है तो स्वार्थ निश्चयसे रहित ज्ञान प्रमाण ही नहीं हो सकता, सो प्रत्यक्षके लक्षणमें जो ४ विकल्प पूछे गए थे उनमेंसे अगर पहले प्रकारके लक्षण वाले कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष मानते हो तो यह सिद्ध ही है, उसमें कोई दोष नहीं है, अर्थात् अस्पष्ट प्रतीतिसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है, सो युक्त ही है। प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट प्रतिभासी होता है, और उसमें अस्पष्ट प्रतीतिरहितताका अभाव है।

देखिये प्रतीति दोनों प्रकारसे होती है, किसी पदार्थका ज्ञान स्पष्ट प्रतीति सहित है और किसी पदार्थका ज्ञान अस्पष्ट प्रतिभास सहित है। अगर अस्पष्ट प्रतिभास वाली प्रतीति न मानी जाये तब बौद्ध ही स्वयं यह बतायें कि प्रत्यक्षमें और अनुमान आदिकमें भेद ग्रहण किस विधिसे किया जा सकता है? प्रत्यक्ष अनुमानसे भिन्न प्रमाण है, यह इसी बलपर ही जाना जाता है कि प्रत्यक्ष तो होता स्पष्टप्रतिभासरूप और अनुमान होता है अस्पष्टप्रतिभासरूप। इससे अस्पष्ट प्रतीतिका नाम कल्पना है, यह बात युक्त है और ऐसा कल्पनासे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष होता है वह भी युक्त है। अब द्वितीय विकल्प वाले कल्पनाके लक्षणपर विचार करें। इस द्वितीय विकल्पमें यह कहा है कि जो स्व और अर्थका निर्णय करे उसको कल्पना कहते हैं। सो यह बात तो सही है, किन्तु ऐसा कल्पनासे रहित ज्ञानको अगर प्रत्यक्षज्ञान मानते तो सम्भव है, क्योंकि स्व और अर्थके निश्चयसे रहित कोई भी ज्ञान

नहीं होता, न प्रमाण होता है, अर्थात् जो भी ज्ञान होगा, प्रमाण होगा वह निर्णायक ही होता है, जैसे अस्पष्ट प्रतीति कल्पना है और ऐसी कल्पनासे रहित प्रत्यक्ष है, यह लक्षण सही है, ऐसे ही स्व और अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान कल्पना है, यह भी सही तो है, किन्तु ऐसी कल्पना प्रत्येक ज्ञानका प्राण है।

अस्पष्ट और स्पष्टप्रतीतिकी अप्रत्यक्षता व प्रत्यक्षताका पुनः ईक्षण जो यह बात कही थी कि अत्यन्त दूर रहने वाले वृक्ष आदिकमें अस्पष्ट ज्ञान होता है तो वह तो प्रत्यक्ष ही है, वहाँ जो चक्षुसे जाना वह स्पष्ट है। तो इस बारेमें जो कल्पना की, वह स्पष्ट है। यहाँ ऐसा भी उत्तर नहीं बन सकता कि दूरवर्ती वृक्ष का ज्ञान श्रुतज्ञान होगा, प्रत्यक्ष न होगा, यह बात यों नहीं की जा सकती कि वह तो सीधा इन्द्रियजन्य ज्ञान है। मतिज्ञानसे जाने गए पदार्थके साथ संसर्ग रखने वाले अन्य पदार्थोंकी जो तर्कणा है वह श्रुतज्ञान है। तो श्रुतज्ञान तो अस्पष्ट हुआ, सविकल्प हुआ, पर जितने प्रत्यक्ष ज्ञान हैं वे अस्पष्ट नहीं होते, स्पष्ट ही होते, और निर्विकल्प नहीं होते। दूसरी बात यह है कि अस्पष्ट रूपसे जो विचार करने वाले ज्ञान हैं उन सबको श्रुतज्ञान कहना युक्त नहीं है। जो-जो अस्पष्ट रूपसे ज्ञान करे वह सब श्रुतज्ञान है, यह कहना ठीक नहीं। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान ये अस्पष्ट हैं तो भी श्रुतज्ञान नहीं है।

स्व और अर्थके निश्चयरूप कल्पनासे रहितपनेकी प्रत्यक्षज्ञानमें व सभी ज्ञानोंमें असंभवता यहाँ शंकाकार आशंका करते हैं कि हम स्पष्ट प्रतीतिको कल्पना नहीं कहते और ऐसे कल्पनासे रहितको प्रत्यक्ष नहीं कहते। ऐसा माने तो सिद्ध साधन है। यहाँ तो यह कहते हैं कि जितनी भी कल्पनायें होती हैं वे स्व और पदार्थका निर्णय करने वाली होती हैं, निर्विकल्प प्रत्यक्षके समय निर्णय नहीं है, क्योंकि जब निर्विकल्प प्रत्यक्ष है तब पदार्थका सद्भाव है और जब उस पदार्थके बारेमें निर्णय बनता है उस समय पदार्थ रहता नहीं, क्योंकि पदार्थ एक क्षणको रहकर ही नष्ट हो जाता है। तो जो पदार्थको न छुवे और ज्ञान बने वह सब सविकल्प ज्ञान है, कल्पना है?

इसके समाधानमें कहते हैं कि स्व और अर्थका निश्चय करने वाले ज्ञानको कल्पना कहेंगे, पर ऐसे कल्पनासे रहित ज्ञानको प्रत्यक्ष कहेंगे तो यह बिल्कुल असम्भव है, क्योंकि स्वार्थ निश्चयरूप कल्पनासे रहित कोई ज्ञान नहीं कहलाता। यदि कोई ज्ञान ऐसा भी हो कि सम्पूर्ण विकल्पसे पृथक् है उस अवस्थामें सभी प्रकारके व्यवसायोंसे रहित हो तो भी स्वसम्बन्ध तो ही रहा है, इसलिए स्व और अर्थके निश्चयसे रहित कोई भी ज्ञान नहीं बनता। ऐसा सोचना कि जिसमें विकल्प न उठे वह ज्ञान प्रत्यक्ष है सो आपेक्षिक ढंगसे तो कह सकते हो, किन्तु ऐसा कोई ज्ञान नहीं जहाँ विकल्प नहीं है याने स्व अर्थका निर्णय नहीं है। सब ओरसे चित्तको हटा भी लिया गया और वह बहुत शान्त स्थितिमें है, अन्तरंग आत्मासे स्थित बन रहा है, फिर भी चक्षुके द्वारा अपने ज्ञानको भीतरमें स्पष्ट निर्णीत कर रहा और रूपमात्रको भी स्पष्ट निर्णीत कर रहा है। तो संकल्प-विकल्पसे रहित अवस्थामें और भी अधिक स्पष्ट निर्णय होता है, इसलिए स्वार्थ निर्णयसे रहित है प्रत्यक्षज्ञान यह कहना

अत्यन्त असंगत है और फिर यह भी सोचिये कि प्रत्यक्षज्ञान कल्पनासे रहित है यह प्रत्यक्षसे तो सिद्ध होता नहीं और अनुमानसे भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पहले जब बार-बार विकल्प किया हो जीवने तो उन विकल्पोंको करता हुआ ही तो अनुमान कर पाता है, इन्द्रियजन्य ज्ञानकी प्रत्यक्षताके निर्णयमें कि पहले जब इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष हुआ था तब भी कुछ स्व अर्थ निर्णय हो चुका था। तब ही तो उसके स्मरणमें विकल्प बन रहा है।

किसी भी पदार्थका स्मरण तब ही तो होता है जब पहले जाना हुआ हो। निर्विकल्प ज्ञानसे जो जाना था उसके विषयमें दूसरे क्षण जो स्वार्थ निर्णय रूप विकल्प होता है वह तब ही तो हुआ जब कुछ निर्णयका पहले भी भान हो। तो कोरा निर्विकल्प ज्ञान प्रत्यक्ष है, इस बातकी सिद्धि अनुमानसे भी नहीं बन सकती। अनुमानसे तब ही बनेगा जब उस प्रत्यक्षके समय भी स्व और अर्थका निर्णय मान लिया जाये। अगर प्रत्यक्षके समय स्व और पदार्थका निर्णय नहीं माना जाता तो स्मृतिज्ञान भी नहीं हो सकता। यदि कहो कि अभ्यास आदिक विशेषोंके कारण वह सब स्मरण ज्ञान हो जायेगा। तो भाई वह अभ्यास क्या है? स्व और अर्थका निश्चय ही तो है। तब अपने आप यह सिद्ध हो गया कि स्व और अर्थका निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। यह बात प्रत्यक्षमें भी पायी जाती है और परोक्षमें भी याने प्रत्यक्षज्ञान भी स्व और अर्थका निर्णय करने वाला है और परोक्षज्ञानमें भी स्व और अर्थका निर्णय करने वाला है। अन्तर यह है कि परोक्षज्ञानमें तो अस्पष्ट प्रतीति है, किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञानमें स्पष्ट प्रतीति है।

निर्विकल्प अर्थसे उत्पन्न होने वाले ज्ञानकी निर्विकल्पकताके मंतव्यकी मीमांसा यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान तो निर्विकल्प ही है। इसका कारण यह है कि जब प्रत्यक्ष ज्ञानका विषयभूत पदार्थ स्वयं निर्विकल्प है, पदार्थका स्वरूप कल्पनासे रहित है तो उस ही अर्थके सम्बंधमें प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ। तो जिस प्रकार अर्थ निर्विकल्प है उसी प्रकार उस पदार्थसे उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी निर्विकल्प है, जिस पदार्थकी उत्तर समयमें होने वाली पर्याय पदार्थजन्य है। सो जैसा पदार्थ है उसके अनुरूप पर्याय है तो ऐसे ही पदार्थसे ही प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है तो वह भी निर्विकल्प है। कार्य तो कारणके सदृश हुआ करता है। उसके समाधानमें कहते हैं कि यह कथन तो विरुद्ध साधक है, याने यह कहा जा रहा है कि निर्विकल्प अर्थके निमित्तसे उत्पन्न हुआ है प्रत्यक्षज्ञान, सो यह हेतु सिद्धिके विरुद्ध है। देखो आत्मामें जड़ पदार्थके निमित्त सुख-दुःख इच्छा चेतनरूप उत्पन्न हो जाते हैं। तो जड़से जड़ ही तो होना चाहिए, पर लो जड़से चेतन बन गया तो कहाँ रही कार्यकी कारण सदृशता?

दूसरी बात यह है कि घट-पट आदिक पदार्थोंको सर्वथा निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जातिविशेष सम्बन्ध छोटे-बड़े आदिक वास्तविक भेदभाव कल्पनाओंसे वे पदार्थ तदात्मक हो रहे हैं। तो सविकल्प अर्थ रहा ना? तो लोग जैसे कहते थे कि निर्विकल्प अर्थके सामर्थ्यसे उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्प है तो यहाँ यह भी कह सकते कि सविकल्प अर्थके सामर्थ्यसे उत्पन्न होनेके कारण

प्रत्यक्षज्ञान सविकल्प है, और वह निर्दोष होकर स्पष्ट है। तो प्रत्यक्षको निर्विकल्प सिद्ध करनेके लिए जो शंकाकारने हेतु दिया है कि निर्विकल्प अर्थकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है यह हेतु विरुद्ध है। अर्थकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होता है तो अर्थ सविकल्प है। तो सविकल्प प्रत्यक्ष बन जायेगा। वस्तुतः देखा जाये तो प्रत्यक्षज्ञान निर्मल स्पष्ट है, पर है सविकल्प, क्योंकि उस स्पष्ट ज्ञानमें स्पष्टपनेका आरोप तो है, याने कल्पना तो चल ही रही है कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट है, कल्पनारहित कहाँ हुआ? जो स्पष्ट होगा वह विशेषसे सहित है। ऐसा प्रतिभासमें आ रहा तो वह निर्विकल्प होगा या सविकल्प। स्पष्ट ज्ञान तो सविकल्प है, स्व और अर्थके निश्चयरूप है।

निर्विकल्प प्रत्यक्षज्ञानसे सविकल्प निश्चायक ज्ञानकी उत्पत्ति मानने वालोंको निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञानकी उत्पत्ति माननेमें हिचक न लानेका शिक्षण यहाँ निरंशक्षणिकवादी शंका करते हैं कि जो यह कहा था कि जाति द्रव्यादिक स्वरूप अर्थसे प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है सो यह कैसे सम्भव है, क्योंकि पदार्थ तो जाति शब्दयोजना आदिक सभी कल्पनाओंसे रहित है। तो अर्थ तो निर्विकल्प ही है, सविकल्प नहीं है। और निर्विकल्प अर्थसे उत्पन्न होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प ही कहा जायेगा।

इस आशंकाका समाधान यह है कि देखो बौद्ध जन ही तो यह मान रहे कि पदार्थका ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष तो हुआ, पर निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न होता है सविकल्प ज्ञान, तो देखो सही ज्ञान सविकल्प ज्ञान, सविकल्प ज्ञान, अनुमान ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्षसे उत्पन्न हुआ? तो जैसे निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञानसे सविकल्प ज्ञान बन सकता है, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञान बन जायेगा। क्षणिकवादियोंका सिद्धान्त यह है कि पदार्थके क्षणमें निर्विकल्प ज्ञान होता है, वहाँ पदार्थका निर्णय नहीं है। उसके बाद पदार्थका जो निर्णय होता है वह सविकल्प ज्ञान है। तो निर्विकल्प ज्ञानसे ही तो सविकल्प ज्ञान बना, ऐसे ही निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प ज्ञान बन जाये, उसमें क्या आपत्ति? निर्विकल्प प्रत्यक्षसे तो सविकल्प ज्ञान बन जाये और निर्विकल्प अर्थसे सविकल्प प्रत्यक्ष न बने, यह तो कोरे पक्षपातकी ही बात है। इस सविकल्प ज्ञानमें जो प्रत्यक्ष है वहाँ शब्दयोजना वाली प्रतीतिकी कल्पना नहीं बता रहे, किन्तु जाति गुण आदिकसे सहित प्रतीति हो ही रही है। तो ऐसी सत्य कल्पनाका वहाँ विरोध नहीं हो सकता, अतएव प्रत्यक्षज्ञान निर्विकल्प है, ऐसा एकान्त करना युक्त नहीं है।

कल्पनाके लक्षणके भेदसे प्रत्यक्षज्ञानमें कथंचित् निर्विकल्पता व कथंचित् सविकल्पताकी प्रसिद्धि प्रत्यक्षज्ञानकी जो कल्पना होती है वह निर्णयरूप कल्पना है। श्रुतज्ञानमें जो कल्पना होती है वह तो संकेत और स्मरणके उपायसे होती है। और श्रुतज्ञानमें इस शुद्ध पदार्थविषयक इष्ट अनिष्ट संकल्प रहता है, लेकिन ऐसी कल्पना हम प्रत्यक्षज्ञानमें नहीं कह रहे, वह तो स्वार्थ निर्णयरूप कल्पना है जो प्रत्यक्षमें चलती है और ऐसा विकल्प चले बिना ज्ञान बनता ही नहीं है। जब ज्ञान हो रहा है तो कुछ निर्णय करता हुआ ही तो होता है। जो निर्णय है सो विकल्प है। जितने भी प्रत्यक्षज्ञान होते

हैं वे स्वयं ही निश्चयात्मक होते हैं। बौद्ध जन जो ऐसा कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता, किन्तु शब्दादिककी अपेक्षा रखकर कल्पना बनती है तब निश्चयात्मक सविकल्प ज्ञान होता है। तो भला शब्दादिककी अपेक्षा रखनेसे निर्णय बनता है तो इसमें तो इतरेतराश्रय दोष हो गया, क्योंकि जब कुछ निर्णय बने तब तो शब्दादिककी योजना चले और मानता है यह कि शब्दयोजना चले तब निर्णय हो तो यह इतरेतराश्रय दोष हो गया। इससे निर्णयशून्य ज्ञानको प्रमाण न कहना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि यदि निर्णय अपने शब्दविशेषकी अपेक्षा करता है तो जिस शब्दविशेषकी अपेक्षाकी उस शब्दविशेषका भी तो निर्णय होना चाहिए। उसका निर्णय करनेके लिए अन्य शब्दविशेषोंकी अपेक्षा होगी। उसका भी निर्णय चाहिए तो इस तरहसे अनवस्था दोष आयेगा। यदि कुछ दूर चलकर याने कुछ तो शब्दान्तर निर्णयान्तर मानते गए और कुछके बाद यदि यह माना जाये कि चौथा, छठा वगैरा निर्णय अपने आप ही होता है वह अन्य शब्दकी अपेक्षा नहीं रखता, तो भला फिर पहले था ही क्यों? यह मान लीजिए कि पदार्थका निर्णय स्वतः हो जाता है, वह शब्दविशेषकी अपेक्षा नहीं रखता। प्रत्यक्ष ज्ञानमें ऐसा देखा ही जा रहा है कि पदार्थ देखते जानते ही तुरन्त निर्णय हो जाता है। तो जब सभी निर्णय स्वतः होता है तब यही निश्चय करना चाहिए कि चाहे मुख्य प्रत्यक्ष हो, चाहे एकदेश प्रत्यक्ष हो, जितने भी प्रत्यक्षज्ञान हैं वे कथंचित् निर्विकल्प हैं और कथंचित् सविकल्प हैं। निर्विकल्प तो यों हैं कि उनमें शब्दयोजना जाल नहीं चलता। और सविकल्प यों हैं कि उनमें स्व और अर्थ निश्चय पड़ा हुआ है। यदि प्रत्यक्षज्ञानको सर्वथा निर्विकल्प मान लिया जाये तो स्व और अर्थका निश्चय कैसे होगा? और यदि प्रत्यक्षज्ञानको सर्वथा सविकल्प मान लिया जाये तो उसमें फिर शब्द कल्पनायें उत्पन्न होनी चाहिएँ। तो इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान कथंचित् सविकल्प है, कथंचित् निर्विकल्प है।

प्रत्यक्षज्ञानमें कथंचित् सविकल्पताकी वादी व प्रतिवादी दोनोंके द्वारा अभीष्टता प्रत्यक्षज्ञानमें कथंचित् सविकल्पता है, इस बातको क्षणिकवादी भी स्वीकार कर लेते हैं। उनका सिद्धान्त है कि नाम, जाति आदिक भेद व्यवहार रूप कल्पनासे रहित है प्रत्यक्ष, किन्तु स्वकीय विकल्पसे रहित हो, सो नहीं है। जैसे कि बताया है कि रूप वेदना विज्ञान संज्ञा संस्कार ये ५ विज्ञान धातुवें हैं और इसी कारण ये सब वितर्क और विचार सहित हैं। तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष वितर्क और विचार सहित है, इसलिए तो सविकल्प है, किन्तु निरूपण आदिक विकल्प नहीं होते प्रत्यक्षमें अतएव निर्विकल्प हैं। सारांश यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमें वितर्क और विचार रूप कल्पना मौजूद है। वितर्कका अर्थ है ज्ञानके द्वारा विषयका आलम्बन करना। कारणको जानना वितर्क है और विचारको अर्थ है कि वितर्कमें जो विषय किया गया उसकी दृढ़ जानकारी करना। सो प्रत्यक्षमें ये दोनों बातें मौजूद हैं, अतएव प्रत्यक्षको सर्वथा निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। हाँ प्रत्यक्षज्ञानमें नाम आदिककी कल्पना या निरूपण नहीं है या उसमें स्मरण नहीं है, अतएव प्रत्यक्षज्ञानमें सविकल्प नहीं है। तो यों प्रत्यक्षज्ञान भी कथंचित् निर्विकल्प हुआ, कथंचित् सविकल्प हुआ। यदि बौद्ध जन ऐसा कहें कि योगियोंका प्रत्यक्ष है, जो

सर्वकल्पनाजालसे रहित है सो ऐसा कहनेपर तो प्रत्यक्षका लक्षण अव्याप्ति दोषसे सहित हो गया। सर्वथा कल्पनाजाल जहाँ नहीं है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। तो ऐसे योगिप्रत्यक्षमें तो घट गया, किन्तु इन्द्रियप्रत्यक्षमें यह लक्षण घटित नहीं होता।

यदि ऐसी बात कहें कि लौकिकी कल्पनासे रहित होना सो प्रत्यक्ष है तो चलो ठीक है। लौकिकी कल्पनासे लक्षण तो हो गया प्रत्यक्ष, पर शास्त्रीय कल्पना तो बराबर साथमें चल रही है। शास्त्रसम्बन्धी कल्पना क्या? स्व और अर्थका निर्णय होना या अर्थाकार होना, अर्थविकल्प होना। तो शास्त्रीय कल्पना तो है, इस कारणसे प्रत्यक्षको एकान्तको निर्विकल्प नहीं कहा जा सकता। यदि शास्त्रीय कल्पना भी न रहे प्रत्यक्षमें तब फिर बुद्धके धर्मका उपदेश ही नहीं बन सकता।

जैसे कि सर्वथा निर्विकल्प है जड़ पदार्थ झोंपड़ी वगैरा, क्या उससे धर्मका उपदेश चलता है? आखिर ज्ञानवान आत्मा है और उसमें पदार्थका निर्णय है। तब ही तो उपदेश चल सकता है। तो प्रत्यक्ष ज्ञानको सर्वथा निर्विकल्प न कहना चाहिए। और फिर देखिये कल्पनाशून्य है प्रत्यक्ष, यह तो कल्पना करनी ही पड़ी। और भ्रान्तिरहित है प्रत्यक्ष, यह भी कल्पना करनी पड़ी। तो जब इन दो का निर्णय समाया हुआ है प्रत्यक्ष ज्ञानमें तो यहींसे समझ लो कि प्रत्यक्षज्ञान कथंचित् सविकल्प हो गया, सो प्रत्यक्षज्ञानका कल्पनारहित अर्थ न करना, किन्तु व्यवधानके बिना स्पष्ट प्रतीति होनेको प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। यह लक्षण देखिये प्रत्यक्ष अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानमें गया और एकदेश प्रत्यक्ष, सांख्यवहारिक प्रत्यक्षमें भी इस लक्षणकी झलक हो जाती है।

मुख्यप्रत्यक्षकी अतीन्द्रियताका निर्णय अब यहाँ वैशेषिक 'मतानुयायी कहते हैं कि कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नहीं है कि जो इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा न रखता हो। सभी प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए, इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा बिना कोई प्रत्यक्ष नहीं होता, ऐसा कहने वाले वैशेषिक मतानुयायी जरा यह तो सोचें कि फिर ईश्वरके प्रत्यक्षमें यह लक्षण कैसे घटित होगा, क्योंकि ईश्वरका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, ईश्वरका ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करता है। उस ज्ञानमें इन्द्रियका सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियके द्वारा समस्त अर्थोंका सम्बन्ध एक साथ किसी जीवमें नहीं हो सकता है? यदि कहो कि उनका ज्ञान योगज है, धर्मविशेषसे उनका ज्ञान बना है, इसलिए सम्पूर्ण अर्थको जान लेता है, सो यह बात तो ठीक है, पर वह प्रत्यक्ष सन्निकर्षजन्य तो न रहा। तो प्रत्यक्षका लक्षण वह न रहा और फिर योगज धर्मविशेषसे समस्त पदार्थोंके साथ सन्निकर्षकी बात क्यों कही जाती? सीधी स्पष्ट बात यह है कि ज्ञानमें ज्ञानके लीन होनेको समाधि कहते हैं और ऐसी समाधिसे एक विशिष्ट अतिशय वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसका नाम एक ज्ञान है, उस ज्ञानके द्वारा एक साथ ही सम्पूर्ण पदार्थोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है और उस ज्ञानमें स्वयं ही जाननेकी सामर्थ्य है। निर्दोष निरावरण ज्ञान हो जानेसे अब यह सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा नहीं रखता।

अब इस प्रसंगमें सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि पौद्गलिक इन्द्रियोंकी वृत्ति होनेका ही नाम प्रत्यक्ष है। वह कैसे कि पहले तो इन्द्रिय अर्थका सामान्य रूपसे परिचय करती है। जैसे आँखोंसे देखा

तो रूप है, रसनासे जाना तो रस है, ऐसा एक सामान्यालोकन होता है, फिर सामान्य अवलोकन किए गए पदार्थका मन संकल्प करता है। हाँ वह पदार्थ ऐसा है, इसके पश्चात् संकल्प किए गए पदार्थमें अहंकार और अभिमान करता है। मैं हूँ, मैं जानता हूँ, इस प्रकारका अभिमान हो और इस अभिमानसे जो क्रिया जानी गई, मैं जानता हूँ, मैं पदार्थको जानता हूँ। तो जिस पदार्थको जाननेका अभिमान हुआ उसका निर्णय बुद्धि करती है। तो यहाँ तक तो सब प्रकृतिका ही कार्य है। फिर प्रकृतिकी इस क्रियामें जो अन्तिम क्रिया है याने बुद्धिसे निर्णय किया गया। अब यहाँ चेतन क्या काम करता है कि बुद्धिसे निर्णीत किए गए पदार्थको यह आत्मा चेत लेता है और इस तरहसे इन्द्रिय मन आदिककी वृत्ति ही प्रत्यक्ष सिद्ध बन गई।

ऐसा सांख्यसिद्धान्तानुयायियोंका कथन संगत नहीं बनता, कारण कि इस तरह की वृत्ति एक बारमें सम्पूर्ण पदार्थोंका विषय नहीं कर सकती। इन्द्रिय व्यापारसे प्रत्यक्ष बने तो योगिप्रत्यक्ष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रिय वृत्तिरूप प्रत्यक्ष तो आंशिक ज्ञान है और सर्वज्ञ प्रत्यक्ष तो सर्वपदार्थ विषयक ज्ञान है। तो इस प्रकार इन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं होता, किन्तु जो ज्ञान सब व्यवधानोंके बिना समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करने वाला हो, स्पष्ट निर्णय रखता हो वह तो है मुख्य सम्पूर्ण प्रत्यक्ष और बिना इन्द्रियके मनकी सहायता बिना अपने विषयका स्पष्ट ज्ञान हो वह है अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान प्रत्यक्ष। और जो एकदेश स्पष्ट ज्ञान करता हो, वह है सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। इस सूत्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्षको संगत नहीं किया गया है, क्योंकि वह तो वास्तवमें परोक्षज्ञान ही है। यहाँ परोक्षज्ञानमें अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान लिए गए हैं, ये अपने और पदार्थका निश्चय करने वाले हैं और स्पष्ट अनुभव करते हैं। तो जो स्पष्ट ज्ञान हो वह प्रत्यक्ष है और इससे अन्य अर्थात् जो ज्ञान स्पष्ट नहीं, अस्पष्ट है वह परोक्ष है। इस तरह प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदोंमें समस्त ज्ञान आता है। अब प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंका संक्षिप्त विवेचन करके अब प्रथम परोक्षज्ञानके प्रकारोंको कहते हैं।

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम् ॥ १३ ॥

प्रकृत सूत्ररचनाका प्रयोजन मतिज्ञानान्तर्गत बोधोंका संग्रह मति स्मृति संज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता अर्थात् तर्क तथा अनुमान ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर हैं अर्थात् मतिज्ञानके ही भेद प्रभेद हैं। यह सूत्र इसलिए कहना पड़ा कि मतिज्ञानके जितने भेद हैं उन भेदोंका मतिज्ञानमें ही अन्तर्भाव करना, नहीं तो ऐसे अनेक प्रमाण मानने पड़ेंगे। कोई कहे कि स्मरण भी तो प्रमाण है और वह इन ज्ञानोंमें आया नहीं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान इन ५ में आया नहीं। तो क्या वह एक छठा प्रमाण है? समाधान यह है कि स्मरण तो क्या, स्मरण जैसे अनेक ज्ञान हैं जो मतिज्ञानमें ही अन्तर्भूत होते हैं। मत्यादिक जो ५ ज्ञान बताये गए उनमें स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क आदिक प्रमाणोंका संग्रह नहीं हो सकता, ऐसी कोई आशंका करे तो मानो उनको समझानेके लिए इस सूत्रकी रचनाकी

गई है। स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक इस सूत्रमें बताये गए ज्ञान मतिज्ञान ही तो हैं, मतिज्ञानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि मतिज्ञानका लक्षण है कि वीर्यान्तरा कर्मोंके क्षयोपशमसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह मतिज्ञान है। सो जैसे वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा स्वरूप मति नामक बोध उत्पन्न होता है इसी प्रकार वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी उत्पन्न होते हैं। इस कारण स्मृति आदिक ज्ञानोंको मतिज्ञानात्मक ही समझना चाहिए। इस सूत्रमें जो प्रथम मति शब्द दिया है उसका अर्थ ५ ज्ञानोंमें बताया गया मतिज्ञान नहीं है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा भेद वाले सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष रूप मतिका ग्रहण है। मतिज्ञानमें जो मति नामका बोध है उसका तो भाव है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे जो सीधा ज्ञान बनता है, वह है मति। स्मृति क्या है? इस मतिपूर्वक अर्थात् पहले कालमें इस मतिसे कुछ परिचय किया था, उसका मनसे स्मरण हो, उसे स्मृतिज्ञान कहते हैं, और मतिज्ञानसे जाने हुएका स्मरण हो रहा हो और वर्तमानमें उस ही पदार्थके बारेमें मति चल रहा हो तो उसके सदृश या प्रतियोगी पदार्थका मति चल रहा हो उन दोनों ज्ञानोंके जोड़रूप, सदृशता प्रतियोगिता आदि रूप जो अर्थबोध है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। अनुमान प्रमाणमें काम आने वाले साध्य-साधनकी व्याप्तिका ज्ञान करना तर्क है। साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान है।

सूत्रोक्त 'इति' शब्दसे बुद्धि मेधा प्रज्ञा आदि अनेक बोधोंके मतिज्ञानमें अन्तर्गत हो जानेका निर्देशन सूत्रमें 'इति' शब्द देनेसे सूत्रोक्त पाँच बोधोंके अतिरिक्त अन्य भी अनेक बोधोंका संग्रह हो जाता है। जितने भी बोध वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं वे सब मतिज्ञानके ही अन्तर्गत होते हैं। जैसे बुद्धि, मेधा, प्रतिभा, प्रज्ञा, अभाव, सम्भव और उपमान आदि। बुद्धि नाम उसका है जो मति सूक्ष्म तत्त्वोंका तत्काल विचार करने वाली होती है और वह इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होती है। जो मति बहुत दिनों तक धारणा रखने वाली होती है उसे मेधा कहते हैं। आगामी पदार्थोंका विचार करने वाली बुद्धिका नाम प्रज्ञा है। जिस बुद्धिमें नवीन-नवीन उन्मेष उठते रहे उस बुद्धिको प्रतिभा कहते हैं। जो परिचय किसी पदार्थका अभाव बताये उस ज्ञानको अभाव प्रमाण कहते हैं। सम्भावनावश अर्थान्तर जानने वाला ज्ञान सम्भव कहलाता है। जैसे कहते हैं कि सम्भव है कि ऐसा हो और सादृश्य और सदृश्यता सहितको जानना उपमान बोध कहलाता है। ये सब मतिज्ञानसे जुड़े नहीं हैं, इस कारण इन सबका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव है और इस सूत्रमें 'इति' शब्द देनेसे उन सबका ग्रहण होता है।

मति स्मृति आदि अंशोंका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव अब यहाँ कोई शंका करता है कि जब मति स्मृति आदिके नाम न्यारे-न्यारे हैं और उनके लक्षण भी न्यारे-न्यारे हैं, विषय भी न्यारा-न्यारा है और इसके द्वारा जो कुछ भी प्रतिभास होता वह भी पृथक् है। जैसे स्मृतिसे स्मरण हुआ, प्रत्यभिज्ञान एकता सदृशता आदिक जाना तो यों जब ये सब भिन्न-भिन्न हैं तो इनको मतिज्ञानसे भिन्न क्यों कहते? इस शंकाके समाधानमें मूल बात यह ही सोचनी होगी कि यद्यपि मति आदिकका व्यवहार

भिन्न-भिन्न है, लक्षण आदिक भी भिन्न-भिन्न हैं, तो भी इनका अभेद है, क्योंकि मति स्मृति आदिक परिचयोंमें एक भेदरूपसे मनन हो रहा है, ऐसी स्थितिमें छोटे-छोटे अंश उपांश रूप परिचय ये मतिज्ञानसे भिन्न रूपमें नहीं रह सकते हैं। अनेक भेदोंका संग्रह एक मूल तत्त्वमें होता है, ऐसा तो अनेक दार्शनिकोंने स्वीकार किया है। जैसे रसनाइन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, चक्षुइन्द्रियसे उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष, योगियोंका प्रत्यक्ष, इनका लक्षण भी जुदा है, नाम भी जुदा है, फिर भी उसको प्रत्यक्षमें ही शामिल किया है, ऐसा नैयायिक आदिक दार्शनिकोंके मतमें अतिप्रसिद्ध है। अनुमान भी तो अनेक तरहके होते हैं। कोई अनुमान अन्वयी हेतुसे बनता है, कोई व्यतिरेकी हेतु से, कोई पूर्ववत् हेतु से। यों अनेक हेतुवोंसे उत्पन्न होता है, इसलिए उन अनुमानोंके स्वरूपमें परस्पर भिन्नता है, फिर भी ये जुदे-जुदे अनुमान प्रमाण नहीं कहे गए। एक अनुमान प्रमाणमें ही ये सब अन्तर्गत हो जाते हैं। यदि थोड़े-थोड़े से भेदोंको लेकर प्रमाण अलग-अलग माने जायें तब उनकी संख्या कोई नियत ही नहीं रह सकती। अनेक प्रमाण मानने होंगे।

जैसे कोई ऐसा समाधान करे कि नैयायिक आदिकने जो अनेक प्रत्यक्ष माने हैं उन समस्त प्रत्यक्षोंका प्रत्यक्षपना एक समान है, इसी प्रकार अनेक प्रकारके हेतुवोंसे उत्पन्न होने वाले अनुमानोंका अनुमानपना एक तरह है। व्याकरण कोश आप्त वाक्य आदिक द्वारा जो शब्द-बोध बनता है उन सबमें आगमपना एकसमान है, इसलिए इसमें विरोध नहीं आता। तो बस यही उत्तर यहाँ है कि मति, स्मृति, संज्ञा आदिक ज्ञानोंमें आया विषय जातिको न छोड़कर भिन्न-भिन्न हो रहा है तो भी मतिज्ञानपना सबमें है। इस तरह इस सूत्रमें जो मतिज्ञानके अंश उपांशोंका संग्रह किया गया है वह युक्तिसंगत है।

बुद्धि मेधा आदि उपांशोंका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव अब मतिज्ञानके अंश उपांशरूप जो मेधा आदिक ज्ञान बताये गए हैं उनका किस प्रकार मतिज्ञानमें अन्तर्भाव होता है, उस विषयका थोड़ा परिचय करें। बुद्धि नाम है भले प्रकारसे अर्थको ग्रहण करनेकी शक्ति रखने वाली मति का। वह मतिज्ञानका ही तो भेद है याने मतिज्ञानके भेदरूप जो मति स्मृति आदिक कहे गए हैं उनमेंसे मतिका प्रकार है बुद्धि। मेधा स्मरणका प्रकार है। किन्हीं-किन्हीं मनस्वी जीवोंके शब्दोंकी स्मरण शक्ति विलक्षण होती है, वह ही मेधा कहलाती है। प्रज्ञा जिसमें कि तर्क-वितर्क उठा करते हैं वह तर्क ज्ञानका ही प्रकार है, इसी प्रकार प्रतिभा ज्ञान भी तर्क ज्ञानका ही प्रकार है। सादृश्य और उपमान यह सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका ही प्रकार है, क्योंकि सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से किसी वस्तुका स्मरण करना, किसी वस्तुका प्रत्यक्ष करना, उनमें सादृश्यता बतायी जाती है। यही उपमानका विषय है और सम्भव अर्थापत्ति अभाव आदिक ये सब अनुमान ज्ञानके भेद-अभेद हैं, क्योंकि जब किसी बातकी सम्भावनाकी जाती है तो चित्तमें कोई कारण होते हैं, अर्थापत्ति तो अनुमानका रूप ही है। इसके होनेपर इसका होना। और अभावमें जब उस वस्तुसे शून्य भूमि आदिकका सद्भाव देखा जाता तो वह अनुमान रूपसे अभेद ज्ञान बनता है। इस प्रकार ये सब ज्ञान मतिज्ञानके ही अनर्थान्तर हैं, बुद्धि

मतिसे भिन्न नहीं है। जैसे अवग्रह ईहा आदिक मति मतिज्ञानका ही भेद है, ऐसे बुद्धि मेधा आदिक भी मतिज्ञानका ही भेद है। जैसे बुद्धिसे जाना कि यह मुंड गौ है, कपिला गौ है, दुधार गौ है आदिक, तो जैसे ये गौके प्रकार हैं, ऐसे ही बुद्धि, मेधा आदि ये सब मतिज्ञानके प्रकार हैं। मेधा को स्मरण ज्ञानमें सम्मिलित किया गया।

जैसे कोई ज्ञान करे कि बढ़िया चावलका प्रकार जो बासुमती है, तो यह मेधा स्मरण ज्ञानका ही तो रूप है। प्रज्ञा व्याप्ति ज्ञानका रूप है, यह बात बहुत स्पष्ट है। प्रज्ञामें भूत, भविष्य, अन्य देशकी सूक्ष्म चीजें, इन सबका तर्क-वितर्क संकल्प किया जाता है। तो वह व्याप्ति ज्ञानरूप तर्कका ही भेद है। इसी प्रकारसे चिन्ताका प्रकार प्रतिभा भी है। प्रतिभामें नवीन-नवीन अर्थोंके ज्ञानको उघाड़नेकी बुद्धि होती है।

कोई शब्द कहा गया, वाक्य कहा गया, उससे नवीन-नवीन अर्थका उद्घाटन करना उसका नाम प्रतिभा है। वह भी तर्क ज्ञानका प्रकार है। उपमानमें लोग उपमान और उपमेय देखकर उनकी सदृशता बताते हैं। यह ही बात तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान में है। गायके सदृश रोझ होता है, ऐसा सुनते आये हैं, और वही पुरुष वनमें जाये और वहाँ रोझ देखे तो वहाँ ज्ञान होता है कि इसके सदृश गाय है। इसकी सदृशता गायमें पायी जाती है। तो उपमान ज्ञानमें यही तो कहा करते हैं कि रोझमें निरूपित व गायमें रहने वाली सदृशता उपमानने जानी तो ये उपमायें, ये सब प्रत्यभिज्ञानके ही भेद हैं। इसी तरह सम्भव, अर्थापत्ति अभाव तथा किसी-किसी प्रकारके अन्य उपमान ये सब लिंगजन्य होते हैं, अतएव अनुमानके ही प्रभेद हैं। कोई चिन्ह देखकर ही तो यह परिचय बना करता है और अनुमानमें भी यही होता है कि कोई चिन्ह देखकर ज्ञान करना।

इस तरह मतिज्ञानमें ये सभी भेद-अभेद सम्मिलित हो जाते हैं। तो मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध इनका नाम बताकर जो इति शब्द दिया है उस इस शब्दसे कम बुद्धि वालेको समझानेके लिए यह अर्थ करना कि मेधा प्रतिभा आदिक ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर हैं और बुद्धिमान पुरुष जो कि स्वयं ही ऐसा समझ रहे हैं कि मेधा आदिक सब इन ज्ञानोंरूप हैं उनके लिए 'इति' शब्दका अर्थ समाप्ति अर्थमें भी लाया जा सकता, अर्थात् ये सब मतिज्ञानके अनर्थान्तर हैं याने ये भिन्न अर्थ नहीं हैं। मतिज्ञान ही एक कहलाता है।

स्मरणज्ञानकी अप्रमाणताकी आशंकाका निरसन अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि स्मरण ज्ञान तो अप्रमाण कहलायेगा, क्योंकि स्मरण ज्ञानने सांख्यवहारिक प्रत्यक्षसे ग्रहण किये गए पदार्थका ही जो ख्याल किया है तो यह ग्रहीतग्राही हो गया। ग्रहीतग्राही ज्ञानको प्रमाण नहीं कहा जा सकता। जो बात एक प्रमाणके द्वारा ग्रहणकी गई बस जान लिया, अब उसे फिर दूसरे प्रमाणसे जाना, उसकी आवश्यकता क्या? तो मतिज्ञानसे याने सांख्यवहारिक प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थका ही स्मरणने ग्रहण किया। जैसे कि जब कुछ ख्याल आता है अमुक गांव, तो उस गांवको पहले देखा था, उसका ख्याल किया जा रहा है तो ग्रहणको ही तो ग्रहण किया स्मरण ने, इस कारणसे अप्रमाण कहलायेगा। लेकिन

उनकी शंका यह यों ठीक नहीं है कि इस तरह अगर स्मरण ज्ञान अप्रमाण मान लिया जायेगा तो सभी प्रमाण और सभी प्रमेय फिर कुछ ठहर ही नहीं सकते। इनसे रहित जगत हो जायेगा। कैसे? सो सुनो! स्मृति ज्ञानके अगर प्रमाणपना नहीं कायम करते, प्रमाणता उसकी मिटाना है तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं रह सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानमें पहले देखेका स्मरण करे तथा इस समय देखेका जोड़ करे, यही तो प्रत्यभिज्ञान है। यह वही पुरुष है जिसको अमुक जगह देखा था, यह उसके समान है, यह उससे दूर है आदिक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाते हैं। तो प्रत्यभिज्ञान तो तब ही बने जब स्मरण हुआ ना। स्मरण बिना प्रत्यभिज्ञान नहीं बनता और स्मरणको कह दिया अप्रमाण तो प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण हो गया और जब प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण हो गया तो तर्क ज्ञान प्रमाण नहीं ठहर सकता, क्योंकि तर्क ज्ञान तो स्मरण प्रत्यभिज्ञानके आधारपर है, तर्क ज्ञानका रूपक है।

जैसे जहाँ-जहाँ धुवां है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवां भी नहीं होता। इस प्रकारकी व्याप्तियां मिलाना, तो यह व्याप्ति तो तब ही बनती है जब स्मरण बने, प्रत्यभिज्ञान बने कि हमने इस-इस जगह धुवां देखा और वहाँ अग्नि पायी गयी। तो स्मरण प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण कह देनेपर तर्क ज्ञान भी अप्रमाण बन जाता है और जब तर्क ज्ञान अप्रमाण हो गया तो अनुमान प्रमाण बन ही नहीं सकता। अनुमान प्रमाण बनता है साधनको देखकर साध्यका ज्ञान करने में। अब व्याप्तिज्ञान तो रहा नहीं, तो यह निर्णय कैसे बना कि यहाँ धुवां है, इसलिए अग्नि होनी चाहिए। तो यों व्याप्ति ज्ञान भी तर्क ज्ञान भी न बना, अनुमान भी न बना और जब अनुमान प्रमाण न बने तो प्रत्यक्षमें प्रमाणता कैसे आयेगी?

जैसे कोई प्रत्यक्षको प्रमाण मानता है और उससे कहा कि भाई तुम सिद्ध करो कि कैसे प्रमाण है? तो वह कोई हेतु तो देगा। हेतु दिया कि अनुमान बना। साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान कहलाता है। प्रत्यक्षकी प्रमाणता तो साध्य है और उसे सिद्ध करनेके लिए कोई हेतु दिया जाता है तो साधनसे साध्यका ज्ञान ही तो किया गया। यही अनुमान कहलाया और अनुमानको माना है अप्रमाण तो यों प्रत्यक्ष भी प्रमाण न बन सकेगा। तो लो देखो एक स्मरण ज्ञानको प्रमाण न माननेपर सारे ज्ञान अप्रमाण बन गए और जब कोई प्रमाण ही न रहा तो फिर प्रमेय किसे कहेंगे? तो लो यों प्रमेयशून्यता भी हो गई। तो यों सर्वजगतका लोप हो गया एक स्मरण ज्ञानको प्रमाण न मानने पर।

अच्छा कोई अगर यों कहे कि सब शून्य हो जाने दो, न प्रमाण रहे, न प्रमेय रहे, बस यह शून्य ही तत्त्व है तो शून्य ही तत्त्व है इसको सिद्ध करके तो बताओ जरा। सिद्ध करनेके लिए कुछ भी वचन कहेंगे वही तो अनुमान आदिक बन गए। तो कुछ भी तत्त्व है यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता प्रमाणके बिना और स्मरण ज्ञानके बिना प्रमाणकी व्यवस्था नहीं बनती, इस कारण शंकाकारने जो शंका की थी कि स्मरणज्ञान ग्रहीतग्राही है इस कारण वह प्रमाण नहीं कहला सकता, यह शंका उसकी युक्ति नहीं है। ग्रहीतग्राहीका अर्थ है कि जितना ही ग्रहण किया उतना ही जाने, लेकिन स्मरण ज्ञानने मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें कुछ विशेष विधिसे जाना, मतिसे अर्थको ग्रहण किया।

अब उसके बारेमें और प्रकारसे जानकारीकी तो यह सर्वथा ग्रहीतग्राही नहीं हुआ, इस कारण भी स्मृतिज्ञानको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता।

अर्थप्रवर्तक होनेसे स्मरण प्रत्यभिज्ञान तर्क व अनुमानमें भी प्रामाण्यकी पुष्टि प्रसंग यह चल रहा था कि स्मरण ज्ञानको प्रमाण न माननेपर कोई भी ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता और जब कुछ प्रमाण ही न रहेगा तो प्रमेय भी कुछ न रहा। इस तरह प्रमाण और प्रमेयसे शून्य जगत हो जायेगा। इस आपत्तिको सुनकर शंकाकार यदि यह कहे कि भाई जो अर्थमें प्रवृत्ति कराये उसको प्रमाण कहते हैं। तो प्रत्यक्ष तो अर्थमें प्रवृत्ति कराता है इसलिए प्रमाण है, पर स्मृति आदिक प्रमाण नहीं हैं, यदि ऐसा शंकाकार कहे तो यही कारण स्मरण आदिकमें भी लगाना चाहिए। जैसे अर्थमें प्रवृत्ति करानेके कारण प्रत्यक्षको प्रमाण माना या किसी भी ज्ञानको प्रमाण माना जायेगा तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिकको भी प्रमाण मानना चाहिए। जैसे इन्द्रियजन्य ज्ञानसे भोजनको जाना तो भोजन करने लगते हैं लोग तो अर्थमें प्रवृत्ति हुई प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा, इसी तरह यह भी तो देखें कि स्मरणसे भी अर्थमें प्रवृत्ति होती है या नहीं।

कोई पुरुष सीढ़ीसे चढ़ गया दूसरी मंजिल पर, अब वह उतर रहा है उल्टा, तो नीचे जो पैर रख रहा है सीढ़ीके और नीचे डंडेपर तो स्मरण करके ही तो रख रहा है। उस उतरने वालेको यह ख्याल आता है कि इसके नीचे एक डंडा है, वहाँ पैर रखना है, अब और है वहाँ पैर रखना है। जहाँ डंडे समाप्त हो जाते हैं वहाँ निःशंक होकर पृथ्वीकी तरह पैर रखता है। तो वहाँ अर्थमें प्रवृत्ति करनेका कारण स्मरण ही तो हुआ। तो स्मरण ज्ञानको भी अर्थमें प्रवर्तक होनेसे प्रमाण मानना चाहिए। और भी देखिये प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी अर्थमें प्रवृत्ति होती है। जैसे रोगी पुरुष पहले किसी औषधिका सेवन करके निरोग हो गया तो अब उसका वही रोगी अथवा दूसरा रोगी प्रत्यभिज्ञान करता है कि इसने वही दवा खायी थी जिससे वह चंगा हो गया। तो उस औषधिका प्रत्यभिज्ञान करता है कि इसने वही दवा खायी थी जिससे वह चंगा हो गया। तो उस औषधिका प्रत्यभिज्ञान कर अब उस औषधि मेंसे थोड़ी औषधि लेकर प्रवृत्ति करता है, औषधि खाता है, निरोग हो जाता है, तो औषधि खानेमें जो प्रवृत्तिकी उसमें प्रत्यभिज्ञान ही तो कारण बना, इसी तरह तर्क ज्ञानसे भी अर्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है। तर्क ज्ञानसे व्याप्ति ही तो जाना जाता है। धूम और अग्निका साहचर्य जब ग्रहण किया याने जहाँ धूम है वहाँ अग्नि मिले तो उस विषयमें अब यह तर्क उठायेगा कि जहाँ-जहाँ धूम होता वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, और फिर इसी तर्कके बलपर अर्थमें प्रवृत्ति भी करेगा याने अर्थकी अभिमुखता करके उसके भेदका ग्रहण कर अग्नि साध्यका अनुमान बनायेगा और अनुमानसे फिर प्रवृत्ति करेगा। तो तर्क ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई, अनुमान ज्ञान द्वारा भी प्रवृत्ति हुई और शब्दाकोष अथवा आगमके ज्ञानसे भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

जैसे आप्तके वाक्यसे किसी अर्थका निर्णय किया, उस निर्णयके अनुसार ज्ञान बनाता है, प्रवृत्ति करता है, आचरण करता है, तो यहाँ आगम ज्ञान द्वारा अर्थप्रवृत्ति हुई अथवा जैसे पुस्तकोंमें कोई

रसायन बनानेकी विधि लिखी है, उसे कोई पढ़ता है तो पढ़कर उसके अनुसार रसायन बनानेमें प्रवृत्ति करता है। तो इस तरह कहीं साक्षात् कहीं परम्परया ये सब स्मरण प्रत्याभिज्ञान आदिक द्वारा अर्थमें प्रवृत्ति होती है, इस कारण ये सभी ज्ञान प्रमाण हैं, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। इस कारण प्रत्यक्षज्ञान भी प्रवर्तक है और वही प्रमाण है, स्मरण आदिक प्रमाण नहीं है। यह सिद्धान्त गढ़ना उचित नहीं है।

अनेक युक्तियोंसे स्मरणज्ञानके प्रामाण्यकी पुष्टि सभी ही जीव इन्द्रियजन्य ज्ञानोंसे पदार्थका स्पष्ट निश्चय करते हैं और उसके अनुसार प्रवृत्ति करते हैं। ऐसा तो प्रायः सभी निरखते हैं, ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अपने आत्मा, शरीर आदिकमें स्मृतिसे भी प्रवृत्ति कर रहे हैं, इस तथ्यकी क्यों उपेक्षा कर रहे हैं बल्कि क्षणिकवादियोंके यहाँ प्रत्यक्ष तो प्रवर्तक नहीं हो सकता, क्योंकि उन्होंने ऐसा माना है कि वह निर्विकल्प है और अर्थके क्षणमें हुआ है, उस ज्ञानके समय विकल्प ही नहीं, निर्णय ही नहीं, कोई प्रवृत्ति कैसे करेगा? तो स्मरण द्वारा प्रवृत्ति होती है, यह बात बौद्ध भी मान रहे हैं। तो स्मरण अर्थमें प्रवर्तक होनेसे प्रमाण है। अगर स्मरण अर्थप्रवर्तक न हो, प्रमाण न हो तो कोई अपनी शक्तका निर्णय ही नहीं कर सकता। किसीने अपनी शक्त अपनी आँखों नहीं देखी, लेकिन लोग दर्पणमें अपनी शक्त देखते हैं। उसका स्मरण कर किसी कलाकार द्वारा निर्मित अपने चित्रमें जो प्रतिबिम्ब देखा उससे अपना स्मरण कर लेता है।

बचपनकी अवस्थाओंका या शरीरके अनेक भागोंका स्मरण कर लोग प्रवृत्ति किया ही करते हैं। लेन-देन, व्यवहार, सम्बंध ये सभी स्मरणपूर्वक हो ही रहे हैं। तो स्मरण पदार्थोंमें प्रवृत्ति कराता है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। अगर स्मृतिको प्रमाण नहीं मानते ये क्षणिकवादी लोग तो फिर भला उनको अपने चित्त आदिकमें स्मृतिसे प्रवृत्ति किस तरह हो सकेगी? तो स्मरण गृहीत अर्थको विषय करता है, ऐसा हेतु देकर अप्रमाण कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि स्मरणको गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण न मानोगे तब फिर ये क्षणिकवादी यह बतायें कि धारावाही इन्द्रियज्ञानका प्रमाणपना कैसे हो सकेगा? याने इन्द्रियजन्य ज्ञानसे लगातार पदार्थोंका निश्चय करते रहते हैं। वह प्रमाण कैसे हो जायेगा?

तो इसका समाधान क्षणिकवादी यह देते हैं कि विशिष्ट उपयोग न होनेपर धारावाही ज्ञानको भी प्रमाणपना नहीं माना गया। यदि ऐसा वे कहें तो यही उत्तर यहाँ है। याने गृहीत पदार्थोंके विषयमें कुछ विशेष बात जाने तब ही वह प्रमाण होता है। जितना गृहीत हुआ उतना ही ग्रहण होवे उसे अप्रमाण कह लीजिए, पर मतिसे जो जाना गया पहले, आज उससे कुछ विशिष्ट बात समझी जा रही है, विधि भी अलग हैं। समय भी अलग है, विचार भी अलग है, इस कारण स्मृतिज्ञान प्रमाण है। इस प्रकार किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है।

स्मृतिमूलक अभिलाषा आदिके अप्रामाण्यकी तरह प्रत्यक्षमूलक स्मृतिमें भी अप्रामाण्यकी आशंकाका शंकाकार द्वारा उद्घाटन अब यहाँ स्मरणज्ञानको प्रमाण स्वीकर न करने वाले दार्शनिक ऐसी शंका

कर सकते हैं कि प्रवृत्ति स्मृतिसे नहीं होती, किन्तु अभिलाषा, पुरुषार्थ, क्रिया, इनसे जो व्यवहार उत्पन्न होता है वह व्यवहार प्रवृत्ति कराता है। यद्यपि अभिलाषा आदिकका कारण स्मरण है, ख्याल आया स्मरण है तब अभिलाषा आदिक बनती है। जैसे खाये हुए मिष्ट व्यंजन स्मरण होता है तो उसकी इच्छा जगती है, फिर उसमें लोग प्रवृत्ति करते हैं तो यद्यपि अभिलाषा आदिक स्मरणके आधारपर हुए हैं, स्मृतिमूलक हैं और स्मृतिमूलक अभिलाषा आदिकसे व्यवहार उत्पन्न होता है और वह व्यवहार प्रवृत्ति कराता है। ऐसा होनेपर भी स्मरण प्रमाण नहीं है और अभिलाषा, पुरुषार्थ क्रिया ये तो इस कारण प्रमाण नहीं हैं कि ये ज्ञानस्वरूप नहीं हैं। जो ज्ञानस्वरूप हो, जड़ न हो वही तो प्रमाण कहा जाता है, ऐसा तो जैन भी मानते हैं कि जड़ प्रमाण नहीं होता। तो अभिलाषा क्रिया आदिकसे व्यवहार बना, उस व्यवहारसे प्रवृत्ति बनी और प्रवृत्तिका मूल हुआ अभिलाषा, अभिलाषाका मूल हुआ स्मृति, तब भी स्मृति प्रमाण नहीं है, तो जैसे अभिलाषा आदिक प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह स्मृतिमूलक है, इसी प्रकार स्मरण भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह स्मृतिमूलक है इसी प्रकार स्मरण भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षमूलक है। भले ही स्मरणमें प्रवृत्ति हो या अभिलाषा आदिकमें प्रवृत्ति हो, किन्तु ये सभी प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब गृहीतग्राही ज्ञान हैं या ज्ञानजन्य व्यवहार हैं। तो न गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण होता और न ज्ञानजन्य व्यवहार प्रमाण होता।

प्रत्यक्षमूलकताके कारण स्मरणको अप्रमाण माननेपर प्रत्यक्षमूलकताके ही कारण अनुमानका भी अप्रमाण माननेका प्रसंग बताते हुए उक्त आशंकाका समाधान उक्त शंकाके समाधानमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि जो शंकाकार बड़ी हठ आरोपके साथ यह बात कह रहे हैं कि स्मृतिमूलक अभिलाषा है तो अभिलाषा प्रमाण नहीं, ऐसे ही प्रत्यक्षमूलक स्मरण है तो स्मरण भी प्रमाण नहीं। तो ऐसा कहने वाले ये क्षणिकवादी अनुमानको भी पृथक् प्रमाण कैसे सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि अनुमानका भी मूल कारण प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान तो बनता नहीं। पहले प्रत्यक्ष किया था, उस विषयका ही अनुमान बन पाता है तो प्रत्यक्षमूलक स्मृति होनेसे स्मरण प्रमाण नहीं है तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान होनेसे अनुमान भी प्रमाण न रहेगा, क्योंकि अनुमान बनता है हेतुको देखकर पक्षमें साध्यकी सिद्ध करने में, तो हेतुका प्रत्यक्ष होता है, तत्पूर्वक अनुमान बनता है। तो फिर अनुमान भी प्रमाण न रहा तब चार्वाककी तरह केवल एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जायेगा, तो यह युक्ति देना कि प्रत्यक्षमूलक स्मरण है, इस कारण स्मरणज्ञान अप्रमाण है, यह युक्ति युक्त है, नहीं है। फिर तो प्रत्यक्षमूलक अनुमान है तो वह भी अप्रमाण हो जायेगा। कोई भी अनुमान संसारमें ऐसा नहीं है जो किसी भी अंश में, किसी भी प्रकारका प्रत्यक्षज्ञान हुआ हो और अनुमान बन जाये।

अनुमानपूर्वक होने वाले अनुमानोंमें भी प्रत्यक्षमूलकताकी सिद्धि होनेसे प्रत्यक्षमूलक अनुमानके प्रामाण्यकी तरह प्रत्यक्षमूलक स्मरणमें भी प्रामाण्यकी सिद्धि यदि शंकाकार यों कहे कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान तो हुआ, लेकिन उस अनुमानके बाद जो अनुमान बनता है वह तो अनुमानपूर्वक अनुमान हुआ, प्रत्यक्षपूर्वक तो नहीं हुआ। इस कारण अनुमान प्रमाण बन जायेगा। वहाँ किसी प्रमाणसे गृहीत

पदार्थका ज्ञान नहीं करा रहे। भले ही प्रथम हुए अनुमानमें यह दोष आयेगा कि वह तो प्रत्यक्षमूलक हुआ, लेकिन अनुमानके बाद जो और अनुमान होता है, जो अनुमानपूर्वक हुए हैं वह ज्ञान तो प्रमाण हो जायेगा और होता भी सर्व अनुमानोंमें इसी तरह, जैसे धुवांका प्रत्यक्ष किया उससे अग्निका अनुमान बना, फिर उस अनुमानसे उस स्थान गर्मीका अनुमान बना तो अनुमानपूर्वक भी तो अनुमान होता है। सूर्यमें गमनशक्ति है, यह किस प्रमाणसे लोग सिद्ध करेंगे? सूर्यकी गति से। तो सूर्य गतिसे सूर्यमें गमनशक्तिका अनुमान किया गया और सूर्यमें गति है, सूर्य गमन करता यह किस ज्ञानसे कोई जानेगा? प्रत्यक्षमें तो गमन नहीं दिखता। वह तो इस अनुमानसे ही जाना जायेगा कि एक देश से, अन्य देशमें सूर्य पहुंच गया तो देशसे देशान्तर गमन करनेसे तो सूर्यकी गतिका अनुमान किया और सूर्यकी गतिका अनुमानके द्वारा सूर्यमें अतीन्द्रिय गमनशक्ति का अनुमान किया तो देखो यहाँ अनुमानपूर्वक ही अनुमान हुआ।

लोकमें भी चार-पांच अनुमान करके आगे-आगे अनुमानसे अनुमान बनाकर वस्तुका निर्णय किया करते हैं, तो सभी अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक नहीं हुए, इस कारण यह दोष देना कि प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान होता है, इसलिए अप्रमाण है। जैसे कि प्रत्यक्षपूर्वक स्मरण अप्रमाण माना गया है यह दोष नहीं आता, ऐसे क्षणिकवादी अपने दोषका परिहार कर रहे हैं अब इस सम्बन्धमें वास्तविकता देखो किस कोई भी अनुमान हुए हों और वे किसी अनुमानपूर्वक हुए हों, पर मूल आधारपर सबमें प्रत्यक्ष ही पड़ता है। चाहे परम्परया पड़ा हो, मगर प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान बन न पायेगा। अनेक अनुमान बनाकर दूर जाकर भी उस अनुमानको यदि प्रत्यक्षपूर्वक न माना जायेगा तो अनवस्था दोष आयेगा। तो आखिर अनेक अनुमान माननेपर भी प्रत्यक्षका कारणपना मानना ही पड़ा। तो जब अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक हुए तो वह भी अप्रमाण बन बैठेगा।

जैसे कि ये ही दार्शनिक कह रहे हैं कि स्मरण प्रत्यक्षज्ञानपूर्वक होता है इस कारण अप्रमाण है तो ज्ञानपूर्वक ज्ञान होता, इस कारणसे अप्रमाणता नहीं आती। सर्वथा गृहीतग्राही भी कोई ज्ञान तब ही होता है जब ज्ञान पहले जितना ग्रहण किए गए अंश तकको ही जानता हो। जो उसमें कुछ विशेषता किसी भी प्रकारसे रखकर जाने तो वह ज्ञान अप्रमाण नहीं कहला सकता।

प्रत्यक्ष व अनुमान ज्ञानकी तरह स्वार्थप्रकाशक होनेसे स्मरण आदि ज्ञानोंमें भी प्रामाण्यकी सिद्धि अब यहाँ शंकाकार यदि यह कहे कि अनुमान प्रमाण तो इस कारणसे है कि वह अपने अर्थका प्रकाशक है, अनुमान प्रमाणका जो विषय है उस विषयका परिचय कराता है तो अर्थ प्रकाशक होनेसे अनुमान प्रमाण है। तो इस प्रकार स्व और अर्थका प्रकाशकपना होनेसे अनुमानको प्रमाण कहेंगे तो ऐसा स्वपर प्रकाशक होनेसे स्मृति भी प्रमाण मान लिया जाना चाहिए। हाँ उस स्मरण ज्ञानसे भिन्न जो अभिलाषा, पुरुषार्थ रागद्वेष विरोध आदिक जो कुछ भी बाह्य तत्त्व बनते हैं वे प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे चेतन नहीं और स्व अर्थके प्रकाशक भी नहीं हैं। जो स्व अर्थका प्रकाश नहीं होता वह ज्ञान प्रमाण नहीं माना गया। प्रवर्तकपनेकी बात यह है कि अपने और अर्थके प्रकाश करनेका ही

नाम प्रवर्तकपना है। कहीं उस पदार्थके प्रति गमन करनेका नाम प्रवर्तकपना नहीं, किन्तु पदार्थ जाननेमें आ गया बस यही प्रवर्तकपना कहलाया। प्रत्यक्ष से, निमित्त से, ज्योतिष आदिकसे भूत के, भविष्यके अन्य देशोंके पदार्थोंका ज्ञान होता है, उस ज्ञानके समय कहीं भी उन पदार्थोंके लिए तो नहीं जाता। तो गमन करनेका नाम या क्रिया करनेका नाम प्रवृत्ति नहीं, किन्तु जाननेका नाम प्रवृत्ति है। सो वास्तविकता तो यह है कि किसी भी तत्त्वका ज्ञान हो जाना ही महान कार्य है।

जैसे कि लोकव्यवहारमें धन चाहने वालोंको धन दिख जाये, यही तो एक बड़ा काम है, अब उसे ग्रहण करना तो सुलभ बात है। तो गुरुतर कार्य यही है कि पदार्थका यथार्थ बोध हो जाये तो स्व-परपदार्थका यथार्थ बोध हो जानेका ही नाम प्रवर्तकपना है सो यह बात जैसे अनुमानमें है वैसे ही स्मरण आदिक ज्ञानोंमें भी है। तो अनुमानकी तरह स्मरण आदिक भी प्रमाण हो जाते हैं। जब किसी चीजका स्मरण करते हैं तो वहाँ भी तो पदार्थका ज्ञान होता है। हाँ अभिलाषा, राग, कषाय ये प्रवृत्तियाँ पदार्थका ज्ञान नहीं करातीं। यह तो मोहनीय कर्मोंके उदय होनेपर आत्माका विभावरूप परिणमन है। यह ज्ञानस्वरूप नहीं, चैतन्यस्वरूप नहीं, किन्तु पदार्थका ज्ञान हो जाना यह प्रमाण है। सो यह बात जैसे प्रत्यक्षमें होती, अनुमानमें होती, ऐसे ही स्मरण आदिक ज्ञानोंमें भी है। अतएव ये सभी ज्ञान प्रमाणभूत हैं, अप्रमाण नहीं।

समारोपव्यवच्छेदक होनेसे स्मरणज्ञानकी स्वतंत्र प्रमाणरूपता यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि अनुमान तो अप्रमाण इस कारण नहीं है कि वहाँ समारोपका व्यवच्छेद है अर्थात् संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय इन तीनों दोषोंका वहाँ निराकरण है। जहाँ संशय, विपर्यय अनध्यवसायका विनाश हो वह ज्ञान प्रमाण कहलाता है। अनुमान ज्ञानमें ये तीनों ही दोष नहीं हैं, इस कारण प्रमाण है, अतः स्मृतिकी तुलना करके अनुमानका अप्रमाण कह देना ठीक नहीं है। इसके उत्तरमें समाधान यह है कि यही बात तो स्मरण ज्ञानमें है। स्मरण ज्ञानमें भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण है। अतः जैसे अनुमान ज्ञान प्रमाण है इसी भाँति स्मरण भी प्रमाण है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि स्मृतिको हम प्रमाण तो मानते हैं, मगर अनुमान रूपसे प्रमाण मानते हैं याने स्मृति भी अनुमानमें अन्तर्गत है। वह अनुमानसे जुदा कोई तीसरा प्रमाण नहीं है।

इसके समाधानमें आचार्य बतलाते हैं कि स्मृतिज्ञानको अनुमान प्रमाण नहीं बता सकते, क्योंकि अनुमानमें तो व्याप्ति वाले हेतुका काम है याने साधनसे साध्यका ज्ञान करना अनुमान है, और साधन वही कहलाता है जिसमें व्याप्ति हो। तो व्याप्ति सहित हेतुका ज्ञान तो नहीं है स्मरणमें फिर भी स्मरण देखा जाता है। और उस स्मरणसे अर्थमें प्रवृत्ति होती है, इस कारण स्मरण ज्ञान अनुमान प्रमाण नहीं है, किन्तु उससे निराला ही है। यदि ऐसा न मानोगे याने व्याप्तिके स्मरण मात्रको यदि अनुमानका रूप दे दोगे तो उस अनुमानमें भी अन्य व्याप्तिके स्मरणकी आवश्यकता होगी। और व्याप्ति स्मरण, वह फिर तीसरा अनुमान बनेगा और चूँकि वह अनुमान तीसरा बन गया तो उसमें भी व्याप्ति स्मरणकी आवश्यकता है। इस तरह तो अनुमान प्रमाण मानते जानेकी और व्याप्ति स्मरण करते

जानेकी अनवस्था होती चली जायेगी। तब तो किसी भी अनुमानकी सिद्धि न हो सकेगी। इससे यह मानना चाहिए कि स्मरण ज्ञान जुदा है और अनुमान प्रमाण जुदा है। अविनाभाव सम्बंधकी स्मृति होती है सो वह स्मरण है। उसे अनुमान नहीं कह सकते। अगर इस ही को अनुमान कह देंगे तो अनुमानमें तो व्याप्ति अवश्य होती है। व्याप्ति सहित हेतुके बिना अनुमान तो बनता ही नहीं, तब फिर उसके लिए दूसरा अनुमान चाहिए। तो यों अनुमानसे अनुमान उत्पत्ति मानते चले जानेमें कहीं दिमाग स्थिर नहीं रह सकता।

स्मरणज्ञानमें चेतकता होनेसे प्रमाणत्वकी सिद्धि अब यहाँ शंकाकार कहता है कि साधन और साध्यके सम्बंधका ही नाम तो अविनाभाव है। जैसे अग्नि न हो तो धुवां नहीं हो सकता, इस कारण अग्निका धूमका अग्निके साथ एक अविनाभाव सम्बंध है। तो ऐसा धूमका जो अविनाभाव है, उस सम्बंधकी जो स्मृति है वह तो अप्रमाण ही है और अप्रमाण ज्ञानसे अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति हो सकती है। ज्ञानसे ज्ञानकी उत्पत्ति हम नहीं कहते, क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्ति हो तो वहाँ गृहीत ग्राहीपना आदिक अनेक दोष आयेंगे, पर अप्रमाण ज्ञान से, स्मरणज्ञानसे अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति सम्भव है। जैसे कि जड़ इन्द्रियसे चेतन प्रत्यक्षकी उत्पत्ति होती है। पहले सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति तो मिथ्याज्ञानसे हुई है, ऐसा मानना ही पड़ता है ना। तो ऐसे ही अप्रमाण स्मरणसे प्रमाण अनुमानकी उत्पत्ति हो जायेगी। तो व्याप्तिके ज्ञानको अप्रमाण माना गया है, और यों व्याप्तिके स्मरणको भी हम अप्रमाण मानते हैं और अप्रमाणसे अनुमानकी उत्पत्ति हुई तो उसमें कोई दोष न आयेगा। ऐसा शंकाकारके द्वारा कहा जानेपर अब समाधान देते हैं।

शंकाकार यह कह रहा है कि साध्य और साधनका जो अविनाभाव सम्बंध है उसका स्मरण तो अचेतन है, अप्रमाण है सो प्रथम तो यह बात युक्त नहीं होती, क्योंकि स्मरणसे पदार्थका निर्णय देखा जाता है और अप्रमाण ज्ञानसे पदार्थका निर्णय सम्भव नहीं। तो जब स्मरणज्ञानसे पदार्थका निर्णय होता है तो स्मरणज्ञान अचेतन कैसे हो सकता है? कोई ऐसी ही हठ करे कि अप्रमाणज्ञानसे भी पदार्थका निर्णय होने लगे तो ऐसी हठ वाले फिर इस बाड़ को न रोक सकेंगे, सारे निर्णय अप्रमाणज्ञान होने लगेंगे फिर प्रमाणज्ञान माननेकी आवश्यकता ही क्या? सब प्रमाण व्यर्थ हो जायेंगे। अप्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि मान ली जाये तो फिर प्रमाणज्ञानका तो नाम ही न रहना चाहिए, रहेगा ही नहीं। ऐसा होना न्याय तो नहीं है ना, कि कुछ-कुछ पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाणज्ञानसे हो और कुछ पदार्थोंकी सिद्धि अप्रमाणज्ञानसे न हो। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई अधबूढ़ी औरत अपनेको युवती समझे इस तरहकी रीति हुई एक। इससे सही बात मान लेना चाहिए कि जैसे अनुमान ज्ञान प्रमाण है उसी प्रकार स्मरण ज्ञान भी प्रमाण होता है।

प्रत्यक्ष व अनुमानकी भांति अर्थवान होनेसे स्मरणज्ञानमें प्रामाण्यकी अप्रतिषिद्धता अब यहाँ क्षणिकवादी कहते हैं कि स्मरणसे अतीत अर्थका ज्ञान होता है। 'वह था' इस प्रकारसे ज्ञान होता है, तो स्मरणज्ञानने जिस पदार्थके बारेमें जाना वह पदार्थ तो है ही नहीं, वह तो अतीत हो गया। स्मरण

तो अतीतका हुआ करता है। तो जब पदार्थ ही नहीं है तो इसके मायने यह हुआ कि स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है, उसका विषयभूत कोई पदार्थ नहीं है और जो अर्थवान नहीं है वह अप्रमाण ज्ञान है। इसके समाधानमें आचार्य बताते हैं कि ऐसा माननेपर कि जो अतीत अर्थका विषय करे वह ज्ञान अर्थवान नहीं, तो प्रत्यक्ष भी अर्थवान न ठहरेगा। क्षणिकवादी जन ऐसा सिद्धान्त बनाते हैं कि प्रत्येक प्रदार्थ क्षण-क्षणमें नया-नया होता है और वह एक समयके लिए ही ठहरता है।, दूसरे समय नहीं रहता और साथ ही यह भी मानते हैं कि ज्ञानकी याने प्रमाणकी उत्पत्ति पदार्थसे होती है, तो इसके मायने यह हुआ कि पदार्थ तो है कारण और ज्ञान है कार्य। तो अब क्षणिकवाद सिद्धान्त में, पदार्थ और ज्ञानमें कार्यकारण भाव हो गया, और साथ ही यह भी नीति है कि कारणभूत पदार्थ पहले समयमें होना ही चाहिए। उत्तर समयमें कार्य होता है। तो यहाँ जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ वह पदार्थकी सत्ताके समय तो न हो सका, क्योंकि कारण साकारभूत स्वपदार्थके स्वरूपलाभके बाद होते हैं। जब प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो उसका कारण जो अर्थ है पदार्थ वस्तु स्वलक्षण वह नष्ट हो गया। तो अर्थसे गुजर जानेपर क्षणिकवादियोंके यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हुआ, सो जो दोष स्मरणज्ञानमें दिया जा रहा है कि देखो पदार्थ तो है नहीं और उसके बारेमें स्मरण चल रहा है, अतएव स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है और अर्थवान न होनेसे प्रमाण नहीं है। तो यही दोष प्रत्यक्षज्ञानमें आयेगा।

देखो क्षणिकवादियोंका प्रत्यक्ष जब हुआ तब अर्थ न रहा तो अर्थके गुजर जानेपर प्रत्यक्षज्ञान हुआ, अतः प्रत्यक्ष अर्थवान न ठहरेगा और जो अर्थवान नहीं वह अप्रमाण है। तो स्मरणके बारेमें कुछ भी दोष ढूँढा जायेगा तो वही दोष प्रत्यक्षज्ञानमें लगेगा और वही दोष अनुमान प्रमाणमें भी लगेगा। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थके नष्ट होनेपर ही होता है ऐसे ही अनुमान ज्ञान भी पदार्थके अतीत होनेपर होता है, तो अनुमान भी अर्थवान न रहेगा। अतः अर्थवान नहीं है स्मरण, यह कारण अप्रमाण है, यह घोषित करना संगत नहीं है। अर्थवान जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है अनुमान प्रमाण है वैसे ही स्मरण ज्ञान भी है। कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता। ज्ञान है तो उसका विषय होना चाहिए। जो निर्विषय हो सो प्रमाण नहीं, तब मति, स्मृति आदि सूत्रमें जो मतिज्ञानके अर्थान्तरमें स्मृति शब्द दिया है वह युक्तिसंगत है।

स्मरणज्ञान भी प्रमाण है, यह बच्चेसे लेकर वृद्ध तक सभी अपने अनुभवसे स्वीकार कर सकते हैं। तो ज्ञानका विषयभूत सत् पदार्थ होना चाहिए, वह चाहे अतीतमें हुआ हो, चाहे भविष्यमें हो, चाहे वर्तमानमें हो किसी भी कालमें सत् हो वह ज्ञानका विषय होता है। स्मरणज्ञानका विषय है भूतकी पर्याय। तो वह अर्थ इस समयमें नहीं है तो भी उसको विषय करके ज्ञान बन जाता है, ऐसा ही तो क्षणिकवादियोंमें प्रत्यक्षमें है, अनुमानमें है। पदार्थ नहीं है और उसका ज्ञान हो रहा है।

साकारता होनेसे स्मरण ज्ञानमें भी प्रामाण्यकी प्रसिद्धि अब शंकाकार यदि यह कहे कि प्रत्यक्ष तो अर्थका प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, अतएव वह प्रमाण है और वह अर्थका बोध कराने वाला है, अर्थवान भी है। जैसे आँखसे जो देखा उसका आकार ज्ञानमें आ गया तो आकार जब ज्ञानमें आ

गया तो अर्थवान हो गया। इसलिए कोई यह दोष न दे सकेगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थवान नहीं है। इसके उत्तरमें कहते हैं कि बात तो सही है। प्रत्यक्ष अर्थवान है, उसका विषय पदार्थ है, उस पदार्थका आकार भी है ज्ञानमें, लेकिन यही बात स्मरणज्ञानमें भी है, स्मरणज्ञानमें भी पदार्थका आकार है। जिसका भी स्मरण किया उसका फोटो तो है स्मरणमें, उसका विकल्प तो है स्मरणमें। तो जैसे प्रत्यक्ष साकार है, ऐसे ही स्मरण भी साकार है। ज्ञानभाव ऐसा सरल भाव है कि वह अपनी आदतसे न हट सकेगा। सभी ज्ञान सविकल्प (साकार) होते हैं। प्रत्यक्ष साकार (सविकल्प) है तो स्मरण भी साकार (सविकल्प) है, अतः प्रत्यक्षकी भाँति स्मरण भी सविकल्प है, अतएव प्रत्यक्षकी भाँति स्मरण भी अर्थवान है और प्रमाणभूत है।

अविशद ज्ञानोंमें भी प्रामाण्यकी प्रसिद्धि यहाँ शंकाकार कहता है कि स्मरणज्ञानमें अस्पष्टता रहती है याने जिसका ख्याल किया जाता है उसका स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता। जैसे कि आँखों देखी हुई चीजका स्पष्ट प्रतिभास है, वैसा स्मरणमें नहीं होता, इस कारणसे स्मरणज्ञान अप्रमाण है। शंकाकारकी शंकाका यही समाधान है कि स्पष्टता होनेके कारण यदि स्मरणज्ञानको अप्रमाण कहा जायेगा तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा। साधनको देखकर साध्यका जो ज्ञान किया जाता है वह स्पष्ट ज्ञान तो नहीं है। जैसे पर्वतपर धूम देखा और धुवेंको देखकर अग्निका अनुमान किया तो क्या उस अनुमानमें अग्निका स्पष्ट ज्ञान है? स्पष्ट ज्ञान तो नहीं है। जैसे चक्षुसे देखकर अग्निका स्पष्ट ज्ञान होता है, ऐसा तो अनुमानमें है ही नहीं। तो अस्पष्ट ज्ञान होनेके कारण यदि स्मरणज्ञानको अप्रमाण कह दिया जाये तो अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा।

प्राप्यार्थवत्ता होनेसे भी स्मरणमें प्रामाण्यकी सिद्धि यदि शंकाकार यह कहे कि अनुमानमें तो प्राप्य अर्थ है याने धूमको देखकर अग्निका अनुमान किया तो वहाँ प्राप्त करने योग्य वस्तु मौजूद है। इस कारणसे अनुमानको अर्थवान कहा जायेगा और अर्थवान होनेसे अनुमान प्रमाण कहा जायेगा। भले ही अनुमान ज्ञानमें अस्पष्टता है, क्योंकि अनुमान सामान्यको विषय करता है। तो अस्पष्ट होनेपर भी चूँकि अनुमानमें प्राप्य अर्थ है, इस कारण अनुमान प्रमाण हैं, तो इसका भी उत्तर यही है कि स्मरणका भी तो प्राप्य अर्थ है, इस कारण स्मृति भी प्रमाणरूप है। जो कोई मुखमें कौर देता है, भोजन करता है तो स्मरण तो रहता ही है कि इस तरह कल खाया था, यह वही चीज है, वह हितरूप है, उसको फिर खाने लगता है, तो स्मरण ज्ञानमें भी तो प्राप्य अर्थ बनता है।

जैसे रात्रिके समय अंधेरेमें कोई पुरुष बाहर जाना चाहता है तो टटोलता हुआ दरवाजेपर पहुंचता है, किस बलपर पहुंचा? स्मरणज्ञानके बलपर ही तो पहुंचा। तो स्मरणका विषय जो द्वार था, सो द्वार उसको प्राप्य हो गया। तो प्राप्य अर्थ वाला होनेसे स्मरणज्ञान प्रमाण बन जाता है। तो इस प्रकार क्षणिकवादी अनुमानकी प्रमाणता कायम रखना चाहते, सो जो अनुमानकी प्रमाणता कायम रखना चाह रहा है वह स्मरणका निराकरण नहीं कर सकता है।

अर्थके अभावमें संस्कारकी अशक्यता होनेके कारण संस्कार सहकारी मनसे जायमान स्मरणज्ञानमें भी अनर्थवन्ताका अभाव होनेसे प्रामाण्यकी सिद्धि अब यहाँ क्षणिकवादी शंकाकार कहता है कि स्मरण तो संस्कारके सहकारी मनके द्वारा उत्पन्न होता है। वहाँ अर्थकी कोई अपेक्षा नहीं। वह तो संस्कारकी चीज है। ख्याल आया और स्मरण बना। तो अर्थकी कोई अपेक्षा न रखकर संस्कारके सहयोगसे मनके द्वारा ही स्मरणकी उत्पत्ति होती है, इस कारणसे स्मरण ज्ञान अर्थवान नहीं है और जब स्मरणज्ञान अर्थवान नहीं है तो उसे जिसने ख्याल किया वह पदार्थ है ही नहीं, तो स्मरणज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है? ऐसी शंका करने वाले शंकाकारीकी एक मोह और मद प्रलाप भरी चेष्टा तो देखो। कह रहा है यह शंकाकार कि संस्कारके सहकारी मनके द्वारा उत्पन्न होता है स्मरण तो देखो इसका अर्थ यही तो हुआ कि संस्कारके होनेपर ही संस्कारमूलक प्रवृत्ति बनी। तो भला कोई भी बताये कि पदार्थ न हो तो क्या संस्कार बन सकता है? यह तो सब मनमाना प्रलाप है और देखो स्वयं भी क्षणिकवादी लाभ तो उठा रहे हैं स्मरणज्ञान का, जिसका विषय अर्थको नहीं बताता, ऐसा स्मरणसे भी प्रवृत्ति करते हुए ये क्षणिकवादी अपना सब काम चला रहे हैं। तो जो भी काम चला रहे हैं वे सब अर्थप्राप्य हैं सो ही तो चल रहा है, तब संस्कार बिना अर्थके तो न हुआ। संस्कारके होनेपर ही स्मरण तो माना और संस्कार अर्थके बिना बनता नहीं, तो यही अर्थ हुआ कि स्मरणका विषयभूत पदार्थ होता है। स्मरण ज्ञान अर्थवान है और वह प्रमाणभूत है।

प्रमाणसामग्रीमें सम्मिलित ज्ञानमें भी स्वतंत्रा प्रामाण्य अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जिस स्मरणज्ञानसे मानसिक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह स्मरणज्ञान प्रमाणकी सामग्रीमें शामिल है और तब वह प्रवृत्ति करने वाली है। इस कारणसे स्मरणको गौण प्रमाण मान लें, पर मुख्य प्रमाण नहीं है, क्योंकि स्मरण प्रत्यक्ष प्रमाणकी सामग्री है। जैसे कि जब अनुमान ज्ञान बनता है तो उसमें साधन और साध्यके सम्बन्धका स्मरण चलता है। याने जैसे जहाँ-जहाँ धुवां होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धुवां नहीं है ऐसा सम्बन्धका स्मरण होता है और उस स्मरणसे अनुमान बनता है तो जैसे वह स्मरण अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है। मुख्य प्रमाण नहीं है। यद्यपि साध्य साधनके सम्बन्धका स्मरण अनुमान प्रमाण बननेमें काम दे रहा है तिसपर भी वह अविनाभावका स्मरण अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है। इस कारण वह गौण प्रमाण है। मुख्य प्रमाण तो अनुमान है, ऐसे ही जिस स्मरणज्ञानसे मानसिक प्रत्यक्ष हुआ तो वह स्मरणज्ञान जो कुछ प्रवृत्ति कराता है सो प्रत्यक्ष प्रमाणकी सामग्री बनकर प्रवृत्ति कराता है, अतः स्मरणज्ञान मुख्य प्रमाण नहीं है। ऐसा प्रमाण सामग्रीके सिद्धान्त वाले कह रहे हैं, लेकिन उनका कहना असंगत है। कारण यह है कि स्मरणको प्रत्यक्षकी सामग्री मानकर स्मरणको उड़ा देनेका जो प्रयास है वह प्रत्यक्ष प्रमाणको उड़ा देगा। केवल अनुमान ज्ञान ही रह जायेगा। सो कैसे?

प्रमाणसामग्रीवादीने यह सिद्धान्त बनाया कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी सामग्री भर है, मुख्य तो प्रत्यक्ष प्रमाण है। तो ऐसे ही यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्षज्ञान तो अनुमानकी सामग्रीभर है,

मुख्य प्रमाण नहीं है। मुख्य प्रमाण अनुमान है और प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमानकी सामग्री है, क्योंकि जब-जब भी अनुमान प्रमाण बनता है तो साधनका प्रत्यक्ष होता है पहले। जैसे धुवां देखकर अग्निका ज्ञान किया गया तो धुएंका जो दिखना है याने वह प्रत्यक्षज्ञान अनुमानकी सामग्री भर है, ऐसा कहा जा सकता है, क्योंकि अनुमान प्रमाण बननेमें प्रत्यक्ष प्रमाण काम आ रहा है। और इस ढंगसे फिर प्रत्यक्ष प्रमाण मुख्य रह नहीं सकता। जैसे कि स्मरणज्ञानको मुख्य नहीं माना जा रहा, क्योंकि वह प्रत्यक्ष सामग्री है, तो ऐसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण भी मुख्य न रहेगा, क्योंकि यह प्रत्यक्षज्ञान अनुमान प्रमाणकी सामग्री भर है, और जब प्रत्यक्ष ही न रहा तब फिर कुछ रहा ही क्या? इससे सर्व विनाशसे बचनेकी इच्छा रखने वाले प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणकी भाँति स्मरण ही स्वीकार करें।

अर्थनिश्चायक व फलवान होनेसे स्मरणज्ञानमें प्रामाण्यकी सिद्धि निष्कर्ष यह हुआ कि जब स्मरणज्ञान प्रत्यक्षकी भाँति अपने अर्थके निश्चय करनेमें समर्थ है याने व्यवधानरहित फल जब स्मृतिको भी मिल रहा है तो प्रत्यक्षको जैसे प्रमाण कहा जाता है अपने विषयभूत अर्थका परिचय करनेके कारण ऐसे ही अपने विषयभूत अर्थका निश्चय करानेके कारण स्मरणको भी प्रमाण स्वीकार करना होगा, और यह भी देख लीजिए कि प्रमाणके फल बताये गए हैं चार छोड़ने योग्य चीजोंको छोड़ देना, ग्रहण करने योग्य चीजोंको ग्रहण कर लेना, उपेक्षा करने योग्य चीजोंकी उपेक्षा करना और अज्ञान दूर हो जाना, सो स्मरण ज्ञानमें भी ये चार बातें फलस्वरूप पायी जाती हैं। स्मरण करके जो छोड़ने योग्य है उसे छोड़ दिया जाता है जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लिया जाता, उपेक्ष्य चीजकी उपेक्षा कर दी जाती। और अज्ञान तो दूर हो ही रहा है। तो जब प्रत्यक्षकी भाँति स्मरणके भी फल हैं और प्रवृत्ति होती है, पदार्थका निश्चय होता है तो स्मरणज्ञान भी भली-भाँति प्रमाण ज्ञान है। तो इस तरह क्षणिकवादी भी क्या, याने नैयायिक आदिक भी स्मृतिको अप्रमाण है, ऐसा पुष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। इस विषयमें विशेष और कहना व्यर्थ है। जो सीधी सही युक्तियाँ हैं उनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि स्मरणज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमानकी भाँति प्रमाणभूत है।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका निर्देशन अब प्रत्यभिज्ञान प्रमाणके विषयमें प्रमाणताकी बात निरखनी है। प्रत्यभिज्ञान कहते हैं उसे जिस ज्ञानमें अतीतका स्मरण करके और प्रत्यक्ष पदार्थका प्रत्यक्ष करके उन दोनोंके सम्बन्धमें जो एकता या सदृशता आदिक जोड़ा जाता है वह कहलाता है प्रत्यभिज्ञान। देखा ही जा रहा है कि लोग स्व और अर्थका प्रत्यभिज्ञान करके प्रवृत्ति किया करते हैं और अर्थोंको प्राप्त कर लेते हैं, जो आकांक्षा है उसके अनुसार अपना व्यवहार करते हैं, इस कारण दर्शन और स्मरणके कारणसे उत्पन्न हुआ जो प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाणभूत है। हाँ, इसके विरुद्ध कुछ ज्ञप्ति बने वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है याने हो तो सदृशता और जान लें एकता तो वह प्रत्यभिज्ञानज्ञानाभास है। हो तो एकता और जान लें सदृशता तो वह भी प्रत्यभिज्ञानज्ञानाभास है। जो यथार्थ प्रत्यभिज्ञान है, जिसके द्वारा जानकर उस प्रकारकी प्रवृत्ति भी कर लेते हैं वह प्रत्यभिज्ञान है। वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारका है-एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान, अथवा कहना चाहिए एकत्वप्रत्यभिज्ञान और

प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान। अतीतका वर्तमानके साथ सदृशता कहना, भिन्नता कहना, छोटा-बड़ा कहना, दूर-पास बताना यह सब प्रतियोगी विधिसे परिचय है। तो वह प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारका है एकत्व प्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, जिसका विषय अतीत और वर्तमानके बीच रहने वाला एकत्व विषय है, वह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और अतीत एवं वर्तमान भिन्न पदार्थके साथ जो सादृशताका विषय करता है वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है। जैसे किसी पुरुषको एक वर्ष पहले देखा था उसे आज देखते हैं तो यों जानना कि यह वही पुरुष है जिसको एक वर्ष पहले देखा था, या अमुक जगह देखा था, यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान है, वह पदार्थ एक ही है, अतीतकी पर्यायमें भी, यही, वर्तमान पर्यायमें भी यही है। उस ही एकमें एकताका परिचय हो रहा है, यह है एकत्व प्रत्यभिज्ञानका विषय। सादृश्य प्रत्यभिज्ञानका विषय भिन्न पदार्थोंमें होता है। जैसे पहले गायको तो देखा ही है, बनमें यदि रोझ देखा जाये तो यों परिचय हुआ ना कि यह तो गायके सदृश है। तो भिन्न दो पदार्थोंमें सदृशताका प्रत्यभिज्ञान किया, तो ऐसे प्रत्यभिज्ञान दो प्रकारके होते हैं और वे सब निर्दोष हैं।

प्रत्यभिज्ञानोंमें संकर व्यतिकर दोषका अनुपद्रव प्रत्यभिज्ञानोंमें संकर और व्यतिकर दोष नहीं होते। संकर दोषके मायने यह हैं कि अनेक धर्मोंका एकसाथ लग जाना याने वही विषय एकत्वका भी हो जाये और सादृश्यका भी हो जाये, ऐसा हो सकता हो तो संकर दोष है, पर ऐसा है ही नहीं। एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें एकत्वका ही परिचय है। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें सादृश्यका ही परिचय है। व्यतिकर दोष उसे कहते हैं कि एककी दूसरेके विषयोंमें गति हो जाये, याने सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें एकत्व प्रत्यभिज्ञान आ जाये या एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें सादृश्य प्रत्यभिज्ञान हो जाये, ऐसा विषयोंमें गमन बने अर्थात् कोई ज्ञान एक दूसरे ज्ञानके विषयमें चला जाये तो व्यतिकर दोष है। ऐसा भी नहीं है, इस कारणसे यह प्रत्यभिज्ञान निर्दोष है। जैसे लोग कह तो देते हैं कि ये वही केश हैं जो एक माह पहले काटे गए थे। किसी पुरुषने एक माह पहले केश कटाया था, अब एक माहमें बढ़ गए। अब फिर कटवा रहा है तो वह या और कोई सोचता है कि ये बाल तो वे ही हैं जो एक माह पहले काटे गए थे। ऐसा कोई प्रत्याभिज्ञान करे तो दोष सहित है जो पहले काटे गये थे। वे तो न जाने कहाँ पड़े हैं? कहीं घूरेमें हों, कहीं गड्ढेमें पड़े हों, पता नहीं कहाँ पड़े हों। आज जो केश कट रहे हैं वे नवीन हैं। यह तो कह सकते हैं कि जो केश कट रहे हैं ये एक माह पहले कटे केशोंके सदृश हैं, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान तो बनता है, मगर इसमें कोई एकत्व प्रत्यभिज्ञानका रूप बनाये तो वह दूषित है। इसी तरह मानो कोई दो बालक एक साथ पैदा हुए, समान ही शक्लके हैं, समान ही आवाजके हैं। अब उनमें जैसे दो नाम पड़े हैं मानो मोहन और सोहन। अब मोहन ही तो बालक खड़ा है और कहा जाये कि यह तो मोहनके सदृश है। तो थी तो एकता, मगर कह बैठे सदृशता इस कारणसे इनमें दोष आया। तो यह दोष आया, लेकिन यह सत्य प्रत्यभिज्ञान नहीं है। भ्रम करके लोग ऐसा कहते हैं और वह प्रत्यभिज्ञानाभास है। तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें और एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें संकर व्यतिकर दोष नहीं होते। परीक्षा करने से, पहिचान करनेसे ये सब बातें स्पष्ट विदित हो जाती हैं।

प्रत्यभिज्ञानके कारणभूत प्रत्यक्षज्ञान व स्मरणज्ञानसे विविक्त प्रत्यभिज्ञानका विषय पर्यायोंमें व्यापी एक द्रव्य अब यहाँ एक शंकाकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञानमें दो बातें समझी गई थीं एक तो जो अतीत हो गया उसका स्मरण हुआ, दूसरे, जो वर्तमानमें दिख रहा उसका प्रत्यक्ष हो रहा। तो अब यहाँ वर्तमानका जो प्रत्यक्षज्ञान है वह तो अतीत विषयको नहीं जान पाता और जो अतीत विषयका स्मरण है वह वर्तमान प्रत्यक्षके विषयका नहीं जानता। तो जब इन दोनोंका एकपना नहीं बन रहा तो एक प्रमाण कैसे हो सकता? प्रत्यक्ष ज्ञान तो कुछ विचार ही नहीं करता। वह तो मात्र साक्षी द्रष्टा जैसा है। तो उस प्रत्यक्ष ज्ञानका जब अतीत विषय नहीं है तो प्रत्यभिज्ञान बन कैसे जायेगा? ऐसी शंकापर समाधान यह है कि यह शंका नहीं, किन्तु खुद समाधान है। वास्तविकता यह ही है कि वर्तमान प्रत्यक्ष अतीत स्मरणके विषयको नहीं जानता और अतीत स्मरण वर्तमान प्रत्यक्षको नहीं जानता, क्योंकि ये दो ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं, लेकिन ये दो ज्ञान या इनमेंसे कोई ज्ञान प्रत्यभिज्ञान ज्ञान नहीं कहलाता। इन दो ज्ञानोंसे जाने गए पदार्थमें जो जोड़रूप ज्ञान है उसका नाम प्रत्यभिज्ञान है। जैसे एकत्व प्रत्यभिज्ञानमें अतीतकी पर्याय जाना और वर्तमान पर्याय जाना, इन दोनोंके बीच व्यापक रहने वाला जो एक वस्तु है, अर्थ है, द्रव्य है वह विषय है प्रत्यभिज्ञान का। तो ये दोनों ही अर्थपर्यायों जो अतीतकी जानी गई और वर्तमानमें जानी जा रही हैं, इसमें तो भेद है, पर उन दोनोंमें द्रव्यसे द्रव्यबलसे देखा जाये तो जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह एकताका साधक है। तो प्रत्यभिज्ञानका विषय न तो दृष्ट रहा, न अतीत रहा, किन्तु दृष्ट और अतीत पर्यायोंमें व्यापने वाला एक द्रव्य रहा।

प्रत्यभिज्ञानका विषय निरवधि न होनेमें प्रत्यभिज्ञानावरणक्षयोपशमरूप योग्यताकी नियामकता अब यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि अतीत और वर्तमान पर्यायमें व्यापक द्रव्य विषय है प्रत्यभिज्ञानका, तब तो सारी पर्यायोंमें व्यापक एकता प्रत्यभिज्ञानसे सब जाना जाये, क्योंकि उसका फिर नियामक क्या रहा? प्रत्यभिज्ञानका विषय है अतीत और वर्तमान पर्यायमें व्यापक द्रव्यको जानना। तो सारा ही क्यों नहीं जान लिया जाता? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा समस्त पर्यायों में व्यापी एकत्व यों नहीं जाना जा सकता कि उसका नियामक है, प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम जितना होता है उतना ही पर्यायोंमें व्यापी एकत्व जाना जा सकता है। ऐसा क्षयोपशम होता क्यों है? यह तो प्रत्येक जीवोंके अपने-अपने भावोंके कारणकी बात है। जैसी कषायोंकी मंदता जिसके पायी जायी जाती है उसके अनुसार क्षयोपशम होता जाता है और जिसका जैसा क्षयोपशम है उसके अनुसार उसके ज्ञानका विषय बनता है। हाँ, श्रुतज्ञान द्वारा तो समस्त पर्यायोंमें व्यापी एक द्रव्य जान लिया जाता है, पर प्रत्यभिज्ञान द्वारा नहीं जाना जाता। प्रत्यभिज्ञान द्वारा तो क्षयोपशमके अनुसार जैसी पूर्व पर्यायोंकी विशेष धारणा हुई हो उसके अनुरूप यथायोग्य ही अतीत पर्यायोंका स्मरण बनता है। और उन पर्यायोंमें जो व्यापक एक द्रव्य है उसका प्रत्यभिज्ञान होता ही है। उसका कौन निवारण कर सकता? क्षयोपशमके अनुसार प्रत्यभिज्ञान जीवोंके बन रहा है यह बात प्रतीति सिद्ध है। ऐसी प्रतीतियाँ प्रत्यभिज्ञान तो प्रायः हर एक कोई कर लेता है कि जो ही मैं बालक था, जो ही मैं कुमार

अवस्थामें था, युवावस्थामें था वहीं अब मैं बूढ़ा हो गया हूं, अतीत और वर्तमान पर्यायोंमें एकताकी जोड़ रूपसे सभीकी प्रतीतियाँ चल रही हैं। इस प्रत्यभिज्ञानका कौन निवारण कर सकता है?

संक्लेश, वेदना, भिन्नसाधनता आदिक कारणोंसे परोक्षज्ञानोंका प्रतिघात एक बात यहाँ सोची जा सकती है कि जब हम १०-५ वर्ष पहलेकी बातोंका स्मरण कर लेते हैं, प्रत्यभिज्ञान कर लेते हैं तो मरण हो जानेके बाद दूसरे मिनट ही हम कुछ भी प्रत्यभिज्ञान या स्मरण नहीं कर पाते। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि मरणके समय जो वेदना होती है और अन्य भव धारण करनेके समय जो तीव्र वेदना होती है उस वेदनासे ऐसा उपयोग बदल जाता कि पूर्वस्मृति सब भंग हो जाती है। जब यहाँ ही हम देखते हैं कि कोई थोड़ा सा दुःख हो गया या कोई विकल्प कर लिया तो उस कष्टमें हम पहली सब बातोंको भूल जाते हैं। फिर तो यह एक जन्म-मरणका कठिन दुःख है। उस दुःखमें सब पूर्व स्मृतियां समाप्त हो जाती हैं। और फिर ये स्मृतियां नैमित्तिक हैं। नया मन मिला, नया देह मिला, अब उसके अनुकूल स्मृतियां और प्रत्यभिज्ञान चलेंगे, पर यह कला है जीवमें कि वह अतीतको भी जाने, वर्तमानको भी जाने और उनमें व्यापक एक द्रव्यको ही जाने।

योग्यतापेक्ष होनसे प्रत्यभिज्ञानकी नियमितता यहाँ कोई यह शंका न कर सकेगा कि जब अनुभूत पदार्थोंमें स्मरण होता है और तन्मूलक प्रत्यभिज्ञा बनती है तो सारे अनुभूत पदार्थोंमें क्यों नहीं स्मृति हो जाती और क्यों नहीं उससे प्रत्यभिज्ञान बन जाता? यह शंकायों नहीं हो सकती जैसा कि समाधान पहले दिया गया उसके अनुसार समझें तो यही उत्तर आता है कि उस प्रकारकी योग्यताकी हानि है याने सारे अनुभूत पदार्थोंमें प्रत्यभिज्ञान बना लें, स्मरण बना लें, ऐसी योग्यता नहीं है। हाँ जिन जीवोंमें ऐसी जितनी विशिष्ट योग्यता है उन जीवोंके वह प्रत्यभिज्ञान पाया ही जाता है। वर्तमानमें भी देखा जाता है कि विशेष समझदार लोग अधिक अतीतका स्मरण कर लेते हैं। तो जितना प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम है उसके अनुसार अनुभूत पदार्थोंमें स्मरणके कारणसे प्रत्यभिज्ञान बनता है और यह प्रत्यभिज्ञान सब जीवोंमें प्रतीति सिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। न कोई प्रत्यभिज्ञानका निवारण कर सकता और न कोई प्रमाणताका खण्डन कर सकता है।

अनुभवमात्र, दृष्टजातीय दर्शन व चतुराई आदिके स्मरणकारणत्वकी व्यभिचारिता वास्तविकता यह है कि स्मरणका कारण अनुभवन मात्र नहीं है अर्थात् पदार्थका कोई पहले प्रत्यक्ष द्वारा अनुमान आगम आदि प्रमाणों द्वारा अनुभव कर लिया हो तो इतना अनुभव करना मात्र ही स्मरणका कारण नहीं होता। इसका कारण यह है कि यदि अनुभव मात्र स्मरणका कारण बन जाये तो सब जीवोंको सब जगह अपने अनुभव किए हुए अर्थका स्मरण हो जाना चाहिए। हो ही जाना चाहिए, पर ऐसा तो नहीं है। अनुभव तो बहुत हुए, परिचय बहुत हैं, मगर स्मरण किसीका ही हुआ करता है। तो इस कारण अनुभव कर लेना मात्र याने पहले किसी पदार्थको जान लेना मात्र स्मरणका कारण नहीं है। तो कोई यह कहे कि जैसा अनुभव किया था, जिस पदार्थको देखा था उस पदार्थकी तरहका कोई अन्य पदार्थ आज दिख जाये तो वह स्मरणका कारण है। जैसे किसीकी छतरी गुम गई और दूसरेको

छतरी लिए हुए देखा तो स्मरण हो जाता है तो यों जाने हुए पदार्थके सदृश जो अन्य पदार्थ हैं उसका दिख जाना स्मरणका कारण बन जायेगा। सो यह भी विचारयुक्त नहीं है, क्योंकि देखे गए, जाने गए पदार्थके सदृश अन्य पदार्थोंका दर्शन हो जाना यदि स्मरणका हो तो फिर सभीका क्यों नहीं स्मरण हो जाता? किसीको स्मरण क्यों नहीं होता? दृष्ट पदार्थसे सजातीय पदार्थ अनेक दिखते हैं, पर स्मरण नहीं होता, इस कारण देखे गए, परिचय किए गए पदार्थोंके सजातीय पदार्थका दर्शन भी स्मरणका कारण नहीं है। तब कोई कहता है कि वासनाका जग जाना स्मरणका कारण होगा। तो ऐसा कहने वाले लोग यह तो बतायें कि स्मरणका जागरण होता कैसे है? यदि वे यह कहें कि सजातीय पदार्थके दिख जानेसे वासना जग जाती है तो यह कहना भी संगत नहीं है। कारण यह है कि सजातीय पदार्थ दिखता भी है तो भी वासना नहीं जगती। तो इस तरह भी तो स्मरणका कारण अनुभव मात्र नहीं रहा। याने जो नियमसे स्मरण पैदा कर दे इस तरहके कारणकी चर्चा चल रही है और न दृष्ट सजातीय पदार्थका दिखना रहा, न वासनाका जागरण रहा और इसी तरह कोई यदि ऐसा ख्याल करे कि किसी देखी हुई वस्तुकी इच्छा करना स्मरणका कारण होगा या कोई प्रकरण, प्रसंग अवसर पा लेना स्मरणका कारण होगा या चतुराई, रंज, वियोग, संयोग आदिक स्मरणके कारण होंगे, सो ये सब भी स्मरणके अव्यभिचारी हेतु नहीं हैं। भले ही ये सब बातें निमित्त पड़ती हैं, पर ये सब उपचरित निमित्त हैं। वास्तविक निमित्त तो स्मरणज्ञानावरणका क्षयोपशम है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यतासे स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिका प्रमाणोंका नियमन अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि अविद्याकी वासनाका प्रलय हो जाना स्मरणका कारण है अर्थात् जो अज्ञानकी वासना जमी हुई है वह वासना हटी कि स्मरण बन जाता है, ऐसे स्मरणका कारण रहा अविद्या वासनाका विनाश। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि हेर-फेरके शब्दसे क्यों कहा जा रहा है अथवा कहो, कोई हानि नहीं, लेकिन अविद्या वासनाका विनाश होना, इसका यही अर्थ है कि स्मरणावरण प्रकृतिका क्षयोपशम होनेपर जो एक भली-भाँति उपयोग वाली वासना होती है बस उसीका ही नाम वासनाका जागरण है। अविद्याकी वासनाका विनाश है, तब एक नाम मात्रका भेद है। चाहे कोई अविद्या वासनाका विनाश कारण कहे स्मरणका और कोई स्मरणावरणका क्षयोपशमरूप योग्यता कारण कहे स्मरणका, केवल नाममात्रका भेद है। तब स्पष्ट बात यह बनी कि स्मरणावरणका क्षयोपशम रूप अंतरंग निमित्त होवे और बहिरंग भी कोई निमित्त होवे। जैसे दृष्ट पदार्थके सजातीय पदार्थका दर्शन हो, अभिलाषा हो, प्रकरण आये, शोक हो, वियोग हो, संयोग हो, ऐसा कोई बहिरंग कारण मिले तो वहाँ स्मरणकी उत्पत्ति होती है और उस स्मरणज्ञानसे जानकर तदनु रूप प्रवृत्ति होती है। यदि स्मरणावरणका क्षयोपशम न हो तो कभी स्मरण नहीं हो सकता। अगर स्मरणावरण कर्मके क्षयोपशमके न होनेपर स्मरण हो जाये तब तो कुछ कैद ही न रहेगी, समस्त दिखे, अनुभव पदार्थोंका स्मरण हो बैठेगा अथवा जो न देखे गए पदार्थ हैं उनका भी स्मरण हो जायेगा। इस कारण ऐसा सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए कि स्वयं जिन-जिनका अनुभव किया जा चुका, ऐसा किन्हीं अतीत

पर्यायोंमेंसे सभीका स्मरण नहीं होता, किन्तु जहाँ प्रयोजन प्रकरण आदिक बहिरंग कारण मिले और स्मरणावरणका क्षयोपशमरूप अंतरंग कारण रहे वहाँ स्मरण बनता है, और ऐसे स्मरणका कारण पाकर प्रत्यभिज्ञान होता है अतः जैसे स्मरण सभी अतीतका नहीं होता, ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान भी सभी अतीत पर्यायोंमें व्यापक एकत्वका ज्ञान नहीं होता। फिर शंकाकारने जो यह आपत्ति दी थी कि प्रत्यभिज्ञान अगर अतीत पर्यायोंमें व्यापक द्रव्यको जानता है तो वह सभी अनन्त पर्यायोंमें व्यापक द्रव्यको जान ले, ऐसा प्रसंग हो जायेगा। सो यह दोष न रहा। एक तो प्रत्यभिज्ञानावरणका क्षयोपशम चाहिए और प्रत्यभिज्ञान बननेका कारणभूत जो स्मरण है उसके लिए भी स्मरणावरणका क्षयोपशम चाहिए और यह होता है कुछ-कुछ रूप में, इस कारण प्रत्यभिज्ञान नियमित ही होता है।

स्वावरणक्षयोपशमरूप योग्यताके कारण अब यहाँ किसीको यह जिज्ञासा होती है कि वह प्रत्यभिज्ञानकी योग्यता बनती किस तरह है? तो ऐसी जिज्ञासा रखने वालोंका समाधान करते हैं। प्रथम तो यह समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान जीवोंके कम अधिक आदिक रूपसे नाना प्रकारका होता है। सो मलसे ढकी हुई मणिके मैलका जिस तरहके अंशोंमें अलगाव होता है याने मणिके मैलको कई तारतम्योंसे जैसे दूर किया जाता है उस प्रकारसे उस मणिमें स्वच्छता देखी जाती है। मणि तो स्वयं स्वच्छ है, पर मणिपर मैल आया हो तो जिस-जिस दर्जेका मैल हटें उस-उस दर्जेमें स्वच्छता मणिपर प्रकट होती है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्मोंसे आत्माका ज्ञान ढका हुआ है। अब क्षयोपशमरूप योग्यता जिस-जिस प्रकारकी होती है उस-उस प्रकारमें आत्माका ज्ञान होता है। तो जैसे स्वर्णको अनेक बार शुद्ध करते हैं तब उसमें विशुद्धता प्रकट होती है, धीरे-धीरे उसमें स्वच्छता योग्यता आती है, इसी तरह आत्मा भी जब एक अपने ज्ञानस्वरूपकी आराधनाका अभ्यास करता है तो अभ्यासके अनुरूप धीरे-धीरे स्वच्छ अवस्था प्रकट होती है। तो जो धीरे-धीरे स्वच्छताकी योग्यता बनी वह आवरण कर्मके हटनेसे बनी ना। तो जैसे-जैसे जीवोंका ज्ञान पौरुष, विशुद्ध पौरुष होता है वैसे ही वैसे क्षयोपशम योग्यता बढ़ती है, बनती है और उसके अनुरूप परिज्ञान होता है। प्रत्यभिज्ञानावरणका दूर होना जैसे नाना प्रकारका है तो उसकी विविधतासे ज्ञानके स्वरूपकी अभिव्यक्ति भी नाना प्रकारकी बनी है। जैसे मणिके मैलका दूरीकरण नाना प्रकारका है तो मणिकी स्वच्छताकी अभिव्यक्ति भी नाना प्रकारकी है। और वह मैल हटा उसका भी कारण है। याने ज्ञानावरणका उपशम क्षयोपशम आदिक जो स्थितियाँ बनती हैं उनका कारण उसके योग्य वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पदार्थ है, जिसके साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध हो वह सब उसका कारण है। तो इस सम्बन्धमें और विशेष क्या कहना? प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और यह बात सबकी प्रतीतिसे सिद्ध है और वह प्रत्यभिज्ञान, एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान इस तरह दो प्रकारका कहा गया है।

संवादका अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बतानेकी एक आशंका अब यहाँ शंकाकार कहता है कि द्रव्यके भूत और वर्तमान पर्यायमें एकत्वका परिचय बनाया वह या एक समान दो पदार्थोंमें पर्यायोंमें सादृश्यका परिचय वह ये दोनों ही प्रतीतियाँ अर्थात् एकत्वप्रत्यभिज्ञान और

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान वास्तविक अर्थको विषय नहीं करते, क्योंकि उन प्रतीतियोंमें सम्वाद नहीं है। जिस-जिस प्रतीतिमें सम्वाद नहीं होता वे सब प्रतीतियां अवास्तविक होती हैं। जैसे कोई ऐसी प्रतीति करे कि आकाशके केशोंकी बहुत अच्छी चोटी गुंथी है या आकाशके फूलोंकी बहुत सुन्दर माला है तो उसकी इस प्रतीतिमें सम्वाद तो नहीं है, अर्थात् किसी प्रमाण द्वारा यह सिद्ध नहीं होता, तो ऐसे ही एकत्वप्रत्यभिज्ञान और सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका जो विषय माना है उस विषयका परिचय बताना और उससे एकत्वप्रत्यभिज्ञान या सादृश्यप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि बनाना यह तो जबरदस्तीकी कल्पना है। उन ज्ञानोंका विषयभूत पदार्थ वास्तविक है ही नहीं। अतएव हम सादृश्यप्रत्यभिज्ञान और एकत्वप्रत्यभिज्ञानका निराकरण तो नहीं करते, क्योंकि ऐसी प्रतीतियां लोगोंकी बन रही हैं, पर तथ्य यही कहते हैं कि ये प्रतीतियां अनर्थविषयक हैं, याने इन प्रतीतियोंका विषय अर्थ नहीं है, क्योंकि उनमें सम्वादका अभाव है। आकाशके फूलोंकी मालाका परिचय बताना, इसमें सम्वाद तो नहीं है, प्रमाणसिद्ध नहीं है इसलिए अवस्तु है, इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानका विषय भी अवस्तु है।

संवादका अर्थ प्रमाणान्तरसंगम माननेपर शंकाकाराभिमत प्रमाणके उच्छेदका प्रसंग बताते हुए उक्त शंकाका समाधान अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि ये शंकाकार यह बतायें कि सम्वाद नाम किसका है, जिस सम्वादके न होनेसे प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बताया जा रहा। शंकाकार यदि यह कहे कि सम्वाद नाम है अन्य प्रमाणका संगम होना। जो जाना गया है उसकी सिद्धि अन्य प्रमाणसे हो ले वह तो है अर्थ विषय सही और जिस प्रतीतिकी सिद्धि अन्य प्रमाणसे नहीं होती वह है अवस्तु। तो इस तरह प्रमाणान्तरके संगम होनेका नाम यदि सम्वाद कहा जाता है तो शंकाकारका प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं सिद्ध हो सकता। फिर प्रत्यक्ष भी प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि इन क्षणिकवादियोंने प्रत्यक्षका विषय कहा है स्वलक्षण। सो स्वलक्षणके समयमें अनुमानकी प्रवृत्ति तो होती ही नहीं, अनुमान तो बहुत समय बाद बनता है, पर उस ही समयमें प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं बन पाता, क्योंकि जब पदार्थ निष्पन्न हो तब तो प्रत्यक्ष न जाने तो निष्पन्न हुए बाद पदार्थ रहना नहीं। तो लो प्रत्यक्षने अवस्तु जाना और साथ ही उस प्रत्यक्षके जाने हुए विषयमें अन्य प्रमाणका संगम न हो सका। इस कारण प्रमाणान्तरके संगमको सम्वाद कहनेपर प्रत्यक्षमें भी सम्वाद सिद्ध नहीं हो पाता, क्योंकि क्षणिकवादियोंने सिद्धान्तके अनुसार अनुमान अवस्तु भूत सामान्यमें लगता है, और अनुमान स्वलक्षणको छू भी नहीं सकता, तब प्रत्यक्ष प्रमाण संवादी नहीं रह सकता।

प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत अर्थमें प्रमाणान्तरसंगमरूप संवादके अभावकी शंका करने वालोंके प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षके विषयभूत अर्थमें अनुमानकी भाँति प्रत्यक्षान्तरके संगमका अभाव होनेसे अप्रमाणताका प्रसंग शंकाकारका यह पक्ष था कि प्रत्यभिज्ञान पदार्थको विषय नहीं करता, क्योंकि उसमें सम्वाद नहीं है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। तो इसपर सम्वादका अर्थ पूछा गया, उस विषय में शंकाकारका यह मंतव्य आया कि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें अन्य प्रमाणोंका संगम नहीं है अर्थात् उस विषयको अन्य प्रमाणने नहीं जाना। जैसे कि एक बातको कोई पुरुष देखकर आया, अब वह सच

है यह बात तब ही समझी जायेगी जबकि उसी वस्तुको दूसरा भी देख ले। तो इसी तरह इस शंकाकारका सिद्धान्त है कि प्रत्यभिज्ञानने जो विषय किया उसको अगर दूसरा प्रमाण भी समझ, सके तब तो सम्वाद कहा जायेगा। सो ऐसा कोई अन्य प्रमाणका संगम हो नहीं रहा, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्वादरहित होनेसे अप्रमाण है। उसके उत्तरमें संक्षेपमें कुछ बात बता दी गई कि यदि अन्य प्रमाणके संगम होनेको सम्वाद कहते हो और उस सम्वादसे प्रमाणता मानते हो तो प्रत्यक्षके विषयमें अनुमान प्रमाण भी नहीं लगता। तो प्रत्यक्ष भी सम्वादरहित हो गया और अप्रमाण हो गया।

इस प्रसंगके निवारण करनेके लिए अब शंकाकार यदि यह कहे कि प्रमाणके विषयमें भूत स्वलक्षणमें अन्य प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति हो जायेगी और इस तरह सम्वाद बन जायेगा, सो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तुका ही नाम स्वलक्षण है और वस्तु एक क्षणके लिए होती है, दूसरे क्षणमें पदार्थ रहता नहीं, ऐसा इन शंकाकार क्षणिकवादियोंका सिद्धान्त है। तो अब यही बहुत गनीमत है कि स्वलक्षणने एक प्रत्यक्ष प्रमाणको उत्पन्न कर लिया, हालांकि उसमें भी समयभेद है। चलो इसपर भी दृष्टि न दें। और मान लो कि वस्तु जिस क्षण उत्पन्न हुई है उस वस्तुने एक प्रत्यक्षको उत्पन्न कर दिया। अब वह वस्तु एक प्रत्यक्ष प्रमाणको उत्पन्न करके नष्ट हो गई। अब जब वस्तु रही ही नहीं तो वह दूसरे प्रत्यक्षको कैसे उत्पन्न करेगी? तो दूसरा प्रत्यक्ष बन नहीं सकता उस वस्तुके बारे में, तो प्रमाणान्तरका जब संगम न रहा तो प्रत्यक्ष प्रमाण भी सम्वादरहित बन गया। और दूसरी बात यह है कि किसी प्रकार जबरदस्ती पहले प्रत्यक्षमें सम्वाद भी मानो तो उस प्रत्यक्षका सम्वादपना तो दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे माना जायेगा। जैसे कि अभी कह ही रहे हैं कि प्रत्यक्षके विषयको दूसरा प्रत्यक्ष जानता है, इसलिए सम्वादी है तो इतना तो यहाँ सिद्ध हुआ कि पहले प्रत्यक्षका सम्वादपना दूसरे प्रत्यक्षकी प्रवृत्तिसे ही माना गया है। तो अब यह बतलाओ कि दूसरे प्रत्यक्षको सम्वादपना किससे माना गया? तीसरे प्रत्यक्षसे और उस तीसरे प्रत्यक्षका सम्वादपना चौथे से। तो इस तरह सम्वादकी अनवस्था हो जायेगी। तो यह कहना कि प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणान्तरका संगम नहीं है, इसलिए सम्वादरहित है और अप्रमाण है। तो यों तो प्रत्यक्षके विषयमें भी प्रमाणान्तरका संगम नहीं है, इस कारण प्रत्यक्ष भी सम्वादरहित हो जायेगा, अप्रमाण हो जायेगा। इस तरह अनेक उलझनोंमें फंसनेके फंद सोचनेके बजाय सीधा ही यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उससे लोगोंको अपने प्रयोजनकी सिद्धि बनती है। अब शंकाकार स्वयं ही ऐसा समझ ले कि जैसे वह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे प्राप्य स्वलक्षणमें प्रवृत्ति मानता है अर्थात् प्रत्यक्षसे जाना, यह अमुक चीज है, उसको प्राप्त कर लेता हैं अनुमानसे समझा कि यह यह चीज है, उसको प्राप्त कर लेता है। तो जैसे प्रत्यक्ष और अनुमानसे प्राप्य अर्थकी प्रवृत्ति बन जाती है ऐसे ही प्रत्यभिज्ञान द्वारा भी जानकर उसकी प्रवृत्ति बन जाती है। फिर कौनसी कमी है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण न कहलायेगा?

प्राप्य व आलंबन भिन्न-भिन्न होनेसे प्रत्यभिज्ञानके अप्रामाण्यकी शंकाकार द्वारा आशंका यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये प्राप्य और आलम्बन ये दो चीजें होती हैं। जिस पदार्थसे ज्ञान बना

है वह पदार्थ तो आलम्बन कहलाता है और ज्ञान बने बाद जिस पदार्थकी प्राप्ति कर ली जाती है वह प्राप्य कहलाता है। तो हमारे प्रत्यक्षमें तो प्राप्य और आलम्बन दोनों ही बातें एक हैं, अर्थात् जिस पदार्थसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है, ज्ञानने उस ही पदार्थको पाया है, परन्तु प्रत्यभिज्ञानमें आलम्बन किया गया पदार्थ तो अन्य है और प्राप्त किया गया पदार्थ भिन्न है। किस तरह? प्रत्यभिज्ञानसे तो प्राप्त होता है पदार्थ स्वलक्षण वस्तु और प्रत्यभिज्ञान बनता है सामान्यके आलम्बन से। स्वयं ही जैनोंने कहा था कि प्रत्यभिज्ञानका विषय पूर्व और वर्तमान पर्यायोंमें व्यापक द्रव्य है तो वह द्रव्य तो सामान्य रहा ना। जो विषयभूत पदार्थ है वह आलम्बन कहलाता है। तो सामान्यके आलम्बनसे प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान बन तो गया, पर इस प्रत्यभिज्ञानने पाया किसे? प्रवृत्ति कहाँ हुई? सामान्यमें नहीं हुई, किन्तु वस्तुमें हुई स्वलक्षणमें हुई। तो प्रत्यभिज्ञानका आलम्बन और प्राप्य एक ही पदार्थ हो वह माना जाता है प्रमाण। जैसे कि विपरीत ज्ञानमें क्या होता है आलम्बन है अन्य, प्राप्य है अन्य। जैसे सीपको चांदी जान लिया तो आलम्बन तो है चांदी, ज्ञानका तो विषय है सो आलम्बन है मगर पास जाकर पायेगा क्या? सीप। इसीलिए तो वह मिथ्याज्ञान कहलाता है कि आलम्बन तो कुछ है और पाया जाता है कुछ। तो जहाँ आलम्बन और प्राप्य ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हों वह ज्ञान प्रमाण नहीं कहला सकता। यही बात प्रत्यभिज्ञानमें पायी जा रही है कि प्रत्यभिज्ञान आलम्बन तो है पदार्थ सामान्य और प्रत्यभिज्ञानसे जानकर पाया गया है कोई वस्तु स्वलक्षण। इस कारण प्रत्यक्षका दृष्टान्त देकर प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण कहवा देना, यह युक्त नहीं है।

आलम्बन व प्राप्य भिन्न-भिन्न होनेसे संवादका अभाव माननेपर शंकाकारके प्रमाणोंमें भी अप्रामाण्यका प्रसंग बताते हुए उक्त शंकाकारका समाधान अब उक्त शंकाके समाधानमें कहते हैं कि शंकाकारका यह कहना है कि जिसका आलम्बन अन्य हो, प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नहीं कहलाता। तो वही बात तो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणमें भी है। वह किस तरह, सो सुनो। क्षणिकवादियोंका प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है वस्तुसे, तो वस्तु जिस क्षणमें है उस क्षणमें भी मान लो, वस्तुने प्रत्यक्षको पैदा किया और प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ कि उसे उत्पन्न करता हुआ ही नष्ट हो गया। अब यह प्रवृत्ति अगर करेगा, समझेगा, प्रतिभासेगा तो किसी अन्यको, क्योंकि आलम्बन तो मिट गया। तो यहाँ भी आलम्बन और प्राप्य भिन्न हो गया। कोई भी पदार्थ जाना जायेगा तो जानकर उस पदार्थको कोई शीघ्रतासे भी पकड़ने चले तो वह पदार्थ हाथ नहीं आ सकता, जो कि ज्ञानका आलम्बन बना था। तो देखो प्रत्यक्ष प्रमाणमें भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्य अन्य रहा, और अनुमानमें तो स्पष्ट ही बात है। क्षणिकवादियोंने अनुमानका विषय सामान्य माना तो सामान्यसे तो अनुमान बना, और अनुमान बनाकर पायेगा क्या वह? कोई विशेष चीज। तो लो यहाँ भी आलम्बन अन्य रहा, प्राप्त अन्य रहा तो यह कोई युक्ति नहीं है कि जिसका आलम्बन अन्य हो और प्राप्य अन्य हो वह प्रमाण नहीं, ऐसी हठ करनेपर तो प्रत्यक्ष और अनुमान भी अप्रमाण हो जायेगा। इस तरह सीधे-सादे यह ही बात मान लेनी चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा यदि वही आलम्बनीय पदार्थ न भी माना जाये तो भी प्रत्यक्षके समान प्रत्यभिज्ञान भी सम्वाद सुव्यवस्थित है।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके लिये तो आलम्बन और प्राप्यमें एकत्वक आरोप हो जाता है याने जो चीज ग्रहणकी गई याने जानी गई और उसके बाद जो चीज हाथमें आयी उन दोनोंमें एकपनेका अध्यारोप हो जाता है। इस तरह यह समझना चाहिए कि वहाँ पाया भी वही गया, जिसका कि आलम्बन किया गया था। तो इसके समाधानमें भी यही बात है, प्रत्यभिज्ञानमें भी यही कहना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो गृहीत हो याने प्रत्यभिज्ञानका जो आलम्बन है उसमें और प्रत्यभिज्ञान द्वारा जो प्राप्य है उसमें एकत्वका अध्यारोप हो जाता है। अतः वहाँ भी यही समझना चाहिए कि प्रत्यभिज्ञानका जो आलम्बन था वही प्राप्त किया गया। इससे प्रत्यक्ष प्रमाणकी तरह प्रत्यभिज्ञानको भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञानकी अनुमानप्रमाणसे भिन्न स्वतंत्र प्रमाणरूपता अब शंकाकार कहता है कि भाई प्रत्यभिज्ञानका काम तो चलता है, हम उसका निषेध नहीं करते, पर प्रत्यभिज्ञान कोई अलग प्रमाण नहीं है, वह अनुमानस्वरूप ही है। अनुमानको छोड़कर प्रत्यभिज्ञान कोई स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यदि ऐसी हठकी जाये कि प्रत्यभिज्ञान स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, वह अनुमानरूप ही है तो इस हठके होनेपर अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति हो नहीं हो सकती, क्योंकि अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति होती है तब जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि यह वही हेतु है जिसका हमें निर्णय है या जिसकी व्याप्ति हमने परखी है या वह उसके समान हेतु है। जब प्रत्यभिज्ञान द्वारा ऐसा समझ लेते हैं तब अनुमानकी प्रवृत्ति बनती है, व्यवहार बनता है, अनुमान प्रमाण बनता है। अब प्रत्यभिज्ञानको तो स्वतंत्रप्रमाण माना नहीं, उसे मान लिया अनुमानरूप ही, तो भला जैसे अनुमानरूप प्रत्यभिज्ञानसे हेतुका निश्चय होनेपर अनुमान बनता था, अब उस प्रत्यभिज्ञानरूप अनुमानका भी हेतु बनाओ। उसमें भी प्रत्यभिज्ञान मिलेगा और उसे भी अनुमान मानेंगे, फिर उसका हेतु बनाओ। इस तरह एक हेतुके निर्णयके लिए ही अनेकानेक अनुमान बनाने पड़ेंगे। तो यों उन्हींकी अनवस्था हो जायेगी। फिर प्रथम अनुमानकी सिद्धि हो कैसे हो सकती है? तो हेतुका प्रत्यभिज्ञान हुए बिना हेतुजन्य अनुमान ज्ञान बन नहीं पाता, इससे प्रत्यभिज्ञान मानना ही पड़ेगा और हठ करें तो अनुमानोंकी अनवस्था हो जायेगी। यदि इन सब दोषोंके दूर करनेके लिए हेतुका विचार करने वाला प्रत्यभिज्ञान स्वतन्त्र प्रमाण मान लिया जायेगा तो बस ठीक है, मानना ही चाहिए, और तब सब काम बनने लगेंगे। तो इस तरह प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण मानना युक्तिसंगत ही है। तब दृश्य और प्राप्यमें एकत्वका अध्यारोप करके प्रमाणान्तरका संगम बनाना, उसे सम्वादी स्वीकार करना, जैसे प्रत्यक्ष और अनुमानमें बताया जाता है, इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञानमें भी हो जाता है अन्यथा आपका सम्वाद प्रत्यक्ष और अनुमानमें भी घटित न हो सकेगा।

अर्थक्रियास्थिति परितोषकी सुसंभवता होनेसे प्रत्यभिज्ञानमें आप्रामाण्यकी शंका करनेकी निर्मूलता अब शंकाकार कहता है कि हम तो सम्वाद इसको मानेंगे कि जो अर्थक्रियामें स्थित करा दे। जहाँ अर्थक्रिया नहीं बन सकती वह प्रमाण नहीं कहलाता। प्रत्यभिज्ञानमें अर्थक्रिया सम्भव नहीं

है। इसलिए प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। इस शंकाके उत्तरमें संक्षेपसे तो इतना ही समझ लेना चाहिए कि इस तरहकी अर्थक्रिया करनेमें स्थित कराना तो शंकाकाराभिमत प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंसे भी सम्भव नहीं। जहाँ वस्तुका समय एक क्षणका ही माना गया तो प्रथम तो उससे कोई प्रमाण ज्ञान बने यह ही असम्भव है और बन जाये तो अब उसमें अर्थक्रिया कराये, यह तो बिल्कुल असम्भव है। तब अर्थक्रियामें स्थित करा देनेको माननेकी बात स्वयं क्षणिकवादियोंके माने गए प्रमाणोंमें भी नहीं बनता है और फिर विशेषरूपसे जब विचार करेंगे तो यह सिद्ध होगा कि जैसे सर्वथा नित्य मानने वालोंमें अर्थक्रिया नहीं बन पाती, इसी तरह सर्वथा क्षणिक मानने वालोंके यहाँ भी अर्थक्रिया नहीं बन सकती। यदि शंकाकार यह कहे कि पदार्थको जो जानने वाले पुरुष हैं उनको संतोष हो जाये, बस सम्वाद हो गया। तो जानने वाले पुरुषको सन्तोष जो जानेसे अर्थक्रियामें स्थित हो जानेकी पहिचान है और उसे सम्वाद माना गया है और ऐसा सम्वाद प्रमाणपनेकी व्यवस्था करता है याने जानने वालेको संतोष हो जाना ही सम्वाद है। तो इसका उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है कि प्रत्यभिज्ञानसे पुरुष जो कुछ जानता है उसके भी सम्वाद बन जाता है। प्रत्यभिज्ञानसे प्रवृत्ति करने वाले पुरुषको अर्थक्रियामें स्थित होनेसे संतोष ही मिलता है। संतोषका अभाव नहीं है, बल्कि प्रत्यक्षसे जानकर लोग जिस तरह संतोष करते हैं इस तरहसे भी अधिक संतोष प्रत्यभिज्ञानसे पदार्थको जानने वाले कर लेते हैं। इस कारण सम्वाद बराबर प्रत्यभिज्ञानमें है और इस कारण उसे प्रमाण मानना ही चाहिए।

बाधकका भावैधुर्यकी असिद्धि होनेसे प्रत्यभिज्ञानमें अप्रमाणताका अप्रसंग अब शंकाकार कहता है कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाण इस कारण नहीं है कि उसमें सम्वादका अभाव है और वहाँ सम्वाद कौनसा नहीं है? बाधकका अभावरूप सम्वाद नहीं है। जिस-जिस ज्ञानमें उसस ज्ञानका बाधक कोई प्रमाण नहीं होता वही ज्ञान सम्वादी कहलाता है, पर प्रत्यभिज्ञानमें बाधकका अभावरूप सम्वाद नहीं है, अतएव प्रत्यभिज्ञान प्रमाण नहीं है। यह शंकाकार इस कारण व्यर्थ है कि यह बाधक भावैधुर्य हेतु सिद्ध नहीं है। प्रत्यभिज्ञानमें बाधकका अभावरूप समवाद नहीं, सो बराबर सब लोगोंकी दृष्टिमें यह प्रसिद्ध है कि प्रत्यभिज्ञानमें कोई बाधा नहीं आती। जैसे कि प्रत्यक्ष आदिक प्रमाणोंमें बाधक प्रमाणका अभाव है और इसीलिए वह सम्वादी कहलाता है इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। विशेष रूपमें जानना चाहते हो तो अलग-अलग भी घटा लीजिए। प्रत्यक्ष प्रमाण तो प्रत्यभिज्ञानका कभी बाधक हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानने जिस विषयको जाना उस विषयमें प्रत्यक्ष प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है। प्रत्यभिज्ञान जानता है अतीत और वर्तमानमें व्यापक एक द्रव्यको। तो वह विषय प्रत्यक्षका है ही नहीं, प्रत्यक्ष तो वर्तमान पदार्थको ही जानता है। जो सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है और अन्य दार्शनिकोंका प्रत्यक्ष है वह पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी द्रव्यको नहीं जानता। तो जो जिसका विषय ही नहीं, वह उसमें न साधक हो सकता न बाधक हो सकता।

जैसे कि परलोक है, इसकी सिद्धि अनुमानसे होती है। अब कोई कहे कि परलोकके बारेमें अन्य प्रमाण भी आना चाहिए तब तो अनुमान सम्वादक बनेगा, सही बनेगा। सो परलोकके बारेमें

प्रत्यक्षकी गति ही नहीं है। तो ऐसा कहना कि प्रत्यभिज्ञानका कोई प्रमाण बाधक है, यह अनुचित है, क्योंकि प्रमाणोंके अपने-अपने भिन्न-भिन्न विषय हैं। तो जैसे परलोककी सिद्धि अनुमानसे होती है तो उस अनुमानका बाधक या परलोककी जानकारीका बाधक प्रत्यक्ष प्रमाण क्यों नहीं है कि वह उसका विषय नहीं। तो जो जिस विषयमें स्वयं प्रवृत्ति कर सकता है वही तो उस विषयमें साधक अथवा बाधक बन सकेगा, अन्य विषयमें नहीं। जैसे कोई ज्योतिषशास्त्रका जानकार है, कोई व्याकरणका जानकार है। अब ज्योतिषके विषयकी सिद्धिमें वैयाकरण न साधक हो सकता है, न बाधक। व्याकरणकी सिद्धिमें ज्योतिषी न साधक होता, न बाधक, तो ऐसे ही प्रत्यभिज्ञानके विषयमें प्रत्यक्ष न साधक हो सकता, न बाधक हो सकता। तो बाधकका अभाव प्रत्यभिज्ञानमें भी है, इस कारण प्रत्यभिज्ञान सम्वाद है और प्रमाण है।

प्रत्यभिज्ञानके विषयमें अनुपलब्धिरूप बाधककी सिद्धि न होनेसे अप्रमाणताके पक्षकी क्षति अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखिये-प्रत्यभिज्ञानके विषयमें बाधा देने वाली अनुपलब्धि तो है। अनुपलब्धि कहते हैं न पाये जाने को। तो ऐसी अनुपलब्धिको बाधक-प्रमाण खड़ा करने वाले शंकाकार यह बतायें कि अनुपलब्धि दो प्रकारकी होती है (१) अदृश्यानुपलब्धि और (२) दृश्यानुपलब्धि। तो अदृश्यानुपलब्धि तो प्रत्यभिज्ञानमें बाधक हो ही नहीं सकती, क्योंकि अदृश्य पदार्थोंमें अनुपलब्धि है तो इससे कहीं उसका अस्तित्व नहीं खत्म हो जाता। हाँ प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस अदृश्यको पा नहीं सकते। परमाणु पिशाच आदिक अदृश्य हैं, और सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष अनुमान द्वारा उनकी अनुपलब्धि हो रही है? यहाँ कोई उन्हें देख तो नहीं पा रहा, तो क्या इस अदृश्यानुपलब्धि प्रत्यभिज्ञानमें बाधक नहीं है। अब दृश्यानुपलब्धिकी बात देखें। इसका अर्थ है कि देखने योग्य है और उसकी अनुपलब्धि है, सो यह हेतु तो सिद्ध नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानके विषयमें सभी लोगोंके अनुभव भी होते और वह विषय दृष्ट भी होता है। सभी जगह, सभी समय प्रत्यभिज्ञान द्वारा जानने योग्य वस्तुका, उसकी योग्यता रखने वाले लोग बराबर ज्ञान कर रहे हैं, तो इस तरह अनुपलब्धि बाधक नहीं है।

प्रत्यभिज्ञानका विषय क्षणिक व विलक्षण न होनेसे असत् विषय बताते हुए अर्थक्रियाका अभाव बताकर प्रत्यभिज्ञानको अप्रमाण बतानेकी शंकाकारकी शंका अब शंकाकार कहता है कि देखिये प्रत्यभिज्ञानके सत्त्वका प्रतिघात है वह किस तरह? पहले तो वस्तुके स्वरूपका निर्णय बनायें। जो सत् हैं वे सब क्षणिक होते हैं सत् होनेसे, और साथ ही साथ वे सब परस्परमें विसदृश ही होते हैं। तो जो क्षणिक है, विलक्षण है वही तो सत् हो सकता है। जो नित्य है अथवा सदृश है वह कुछ भी सत् नहीं है। तो क्षणिक और विलक्षणके अतिरिक्त किसीका भी सत्त्व नहीं होता। प्रत्यभिज्ञानका विषय क्षणिक नहीं, विलक्षण नहीं। तब वहाँ सत्त्वका ही अभाव है, प्रतिघात है और साथ ही यह भी समझें कि जब प्रत्यभिज्ञानका विषय सदभूत नहीं है तो वहाँ अर्थक्रिया भी नहीं होती, क्योंकि अर्थक्रियासे व्याप्त सत् हुआ करता है।

जो सत् है उसमें अर्थक्रिया है, जिसमें अर्थक्रिया है वह सत् है। तो जो नित्य पदार्थ है या सदृश पदार्थ है, उनमें अर्थक्रिया नहीं होती। इस कारण भी परमार्थतया प्रत्यभिज्ञान और उसके विषयका सत्त्व नष्ट हो जाता है मायने सत् नहीं है। किसी प्रकार? नित्य पदार्थमें या सदृश पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होती। इस तरह यदि नित्यमें अर्थक्रिया होती तो बताओ क्रमसे होती या युगपद होती? नित्यमें क्रमसे अर्थक्रिया कैसी? अगर क्रमसे अर्थक्रिया है तो नित्य न रहा और एक साथ कौनसी अर्थक्रिया है? यदि एक साथ अर्थक्रिया हो तो अनन्तों कार्य एकमें एक साथ हो जावें। तो जब नित्य पदार्थमें और सदृश पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होती तो इसका अर्थ यह हुआ कि उसका सत्त्व भी नहीं है। जो अंशसे रहित है, क्षणिक है, विलक्षण है, ऐसे पदार्थको (जिसका कि स्व लक्षण है, वास्तविक है तो जो परमार्थ पदार्थ है उसको) किन्हीं भी कारणोंकी अपेक्षा नहीं होती। तो इस तरह देख लीजिए व्यापककी अनुपलब्धि हो रही है। प्रत्यभिज्ञानका विषय तो व्यापक ही बताया जा रहा व्यापककी अनुपलब्धि हो रही है। प्रत्यभिज्ञानका विषय तो व्यापक ही बताया जा रहा। पहली पर्याय और अगली पर्याय, इन दोनोंका आधारभूत दोनोंमें व्यापक एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञानका विषय कहा जा रहा, मगर ऐसी व्यापककी उपलब्धि है ही नहीं। तो इस अनुपलब्धिके द्वारा प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध नहीं होती।

प्रत्यभिज्ञान प्रमाणको मिटानेके लिये बनाये जाने वाले अनुमानकी प्रत्यभिज्ञान बिना अनुत्पत्ति बताते हुए उक्त शंकाका समाधान उक्त आशंकाके समाधानमें आचार्य कहते हैं कि शंकाकारका आखिर आशय यही तो है कि वस्तुभूत पदार्थका सत्त्व अर्थक्रियायुक्त होता है। सो यह शंकाकी जा रही है कि अर्थक्रिया नित्य पदार्थमें नहीं हो पाती। तो जब अर्थक्रिया नित्य पदार्थमें नहीं है तो उसका व्याप्त सत्त्व वह भी सिद्ध नहीं होता। इस तरह व्यापकानुपलब्धिसे अर्थात् अर्थक्रियाकी अनुपलब्धिसे व्याप्य सत्त्वकी असिद्धि बता रहे हैं। वे यह सोचें कि उन शंकाकारोंका पदार्थ है क्षणिक तो सारे पदार्थ क्षणिक माने जा रहे हैं, वे अगले समयमें तो रहते ही नहीं। क्षण-क्षणमें ही नये-नये उत्पन्न होते हैं। कोई किसीके सदृश नहीं। जब स्थिर हो तो सदृशताकी बात सोचें। ऐसा जो सिद्धान्त माना है वह सब अपने मनकी कल्पनामात्र है। वस्तुतः देखा जाये तो क्षणिकपना और सत्त्वमें व्याप्ति ही सिद्धि नहीं होती, क्योंकि व्याप्ति तो तब बना करती है जब सारे देश और सारे कालमें साध्यसाधनका उपसंहार कर दृष्टि बनायी जाये। और यदि सारे देशमें दृष्टि बनायी जाती तो सादृशता आती। सारे कालोंमें व्याप्ति बनाते हैं तो अनित्यता आती है। तो ये क्षणिकवादी अनुमान द्वारा न क्षणिकपनेको सिद्ध कर सकते और न विलक्षणताको सिद्ध कर सकते। तब प्रत्यभिज्ञानमें यह अनुमान बाधक हो ही कैसे सकता? अनुमान भी तब बनता जब प्रत्यभिज्ञान मानें। सो अनुमानको बाधक बतायें तो उन्हें प्रत्यभिज्ञान पहले ही मानना पड़ेगा।

सत्त्व हेतुसे प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत नित्य एवं एकत्व की प्रसिद्धि यहाँ क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि जो भी सत् है वह सब क्षणिक होता है, सत् होनेसे। तो इस अनुमानकी वे व्याप्ति इस तरहसे तो लगाते हैं कि नित्य पदार्थोंके अभाव होनेपर सत्त्वका निश्चय हो रहा है। तो इस व्याप्तिमें उनको

व्यतिरेक व्याप्तिका बल मिला। सो प्रथम तो यह बात है कि शंकाकार क्षणिकवादी व्यतिरेकी हेतुसे अनुमानकी सिद्धि नहीं मानते, लेकिन इसे भी ओझल करें और मानो व्यतिरेकी हेतुसे अनुमान मान लिया तो ऐसी दशामें यही तो कहा जा सकता है कि यह जीवित शरीर जो कि रोगी है, शय्यापर पड़ा हुआ है, यह जीवित शरीर आत्मारहित नहीं है, क्योंकि श्वास नाड़ीका चलना, उष्णता बोलचालसे सहित है। यहाँ भी व्यतिरेकी हेतुसे काम बनता है। व्यतिरेक व्याप्ति बनती है कि जो आत्मा सहित नहीं है वह प्राण आदिकसे युक्त नहीं है, जैसे कि डला, पथर आदिक। तो यहाँ एक आत्माकी सिद्धि हो गई ना, और व्यतिरेकी हेतुवोंसे अनुमान हुआ क्षणिकवादियोंने आत्मसत्त्व माना नहीं तो ऐसे अनुमान प्रयोगसे स्वयं क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तका विघात हो जाता है। अतः प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणका खण्डन करनेके लिए अनर्गल प्रयास प्रयोग करना स्वयं शंकाकारके सिद्धान्तके विघातके लिए है।

अब इस प्रसंगमें दूसरी बात समझिये जो यह कहा गया था कि नित्य पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं होती और प्रत्यभिज्ञानका विषय बनाया है नित्य पदार्थ और वह है अर्थक्रियाशून्य। तो प्रत्यभिज्ञानका विषय अर्थ न रहा, अनर्थ हो गया, इसलिए अप्रमाण है। तो ऐसा कहनेके बजाय यह ही कहना चाहिए था कि क्षणिक पदार्थमें अर्थक्रिया नहीं बनती, क्योंकि जो क्षणिक है, एक क्षण हुआ, अगले क्षण रहता ही नहीं है तो उसमें क्रमसे अर्थक्रिया भी नहीं बनती और एक साथ भी अर्थक्रिया नहीं बनती है। जो निरंश है, निरात्मक है उसमें अर्थक्रिया की क्या सम्भवपना है? तो जो शंकाकारने अनुमान बनाया था कि सब क्षणिक हैं सत्त्व होनेसे तो इस सत्त्वकी व्याप्ति तो नित्यके साथ लगती है, सब नित्य है सत्त्व होनेसे, तो इस प्रकार अर्थक्रिया क्षणिकमें न हो सकी तो प्रत्यभिज्ञानका विषय सिद्ध हो ही जाता है, और प्रत्यभिज्ञानका विषयभूत जब अर्थ मिला तो प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, इसमें कोई प्रकारका संदेह न होना चाहिए।

नित्यानित्यात्मक अर्थका प्रत्यभिज्ञानसे परिचय प्रत्यभिज्ञान सर्वथा एकान्तका निषेध करता है। पदार्थ नित्यानित्यात्मक है जो कि एक वास्तविकता है। उस नित्यानित्यात्मक पदार्थका परिचय इस प्रत्यभिज्ञानसे बन जाता है। पदार्थ उत्पादव्ययधौव्य स्वरूप है, इसकी पुष्टि एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे होती है। जैसे एकत्वप्रत्याभिज्ञानमें कहा जाता है यह वही पदार्थ है जो एक वर्ष पहले था, कहीं दिखा था। तो पूर्व पर्यायसे वर्तमान पर्याय भिन्न है यह भी सिद्ध हो गया, और बीचमें सर्वत्र सर्वदा व्यापक रहा, यह भी सिद्ध हो गया। तो द्रव्य और पर्यायमय वस्तु हुआ करती है। कोई भी वस्तु पर्यायमात्र नहीं और पर्यायरहित द्रव्यमात्र भी वस्तु नहीं। तो द्रव्य और पर्यायोंमें ही नित्य और अनित्यपनेका तादात्म्य चल रहा है। तो नित्यानित्यात्मक पदार्थमें द्रव्यदृष्टिसे एकत्वका और सदृश परिणाम होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाणका बनना उचित ही है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्यभिज्ञानका विषय है अनित्य पर्यायोंमें व्यापने वाली एक नित्य वस्तु। न केवल अनित्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है, न कोरा नित्य प्रत्यभिज्ञानका विषय है। अर्थक्रिया जैसे अनित्य एकान्तमें नहीं बनती वैसे ही नित्य एकान्तमें भी नहीं बनती। नित्यानित्यात्मक पदार्थोंमें ही प्रत्यभिज्ञान पाया जाता है और वह है एक तृतीय

जातिका याने न कोरा नित्य है, न कोरा अनित्य है, किन्तु द्रव्य और पर्यायसे तदात्मक हो रही वस्तु ही प्रमाणका विषय है, प्रत्यभिज्ञानका विषय है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण कोई नहीं है। तो बाधक प्रमाणका अभाव होनेसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और प्रत्यभिज्ञान द्वारा अनेक कार्य सिद्ध होते हुए देखे ही जा रहे हैं। प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञाताको संतोष भी होता है। प्रत्यभिज्ञानसे ज्ञाता अर्थमें प्रवृत्ति करता, प्रत्यभिज्ञानसे व्यवहार होता। प्रत्यभिज्ञानको प्रमाण न माना जाये तो अन्य प्रमाण भी नहीं रहते और प्रमाण जब नहीं रहता तो प्रमेय भी नहीं, तब सारा जगत शून्य हो जायेगा इस कारण जैसे स्मृति प्रमाण है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान भी प्रमाण है।

प्रतीतिसिद्ध प्रमाणमें अप्रमाणता थोपनेके कुतर्कोंकी गुंजाइशका अभाव यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि जो समाधान में यह बात कही है कि प्रत्यभिज्ञानकी प्रमाणताके माननेमें बाधकके अभावकी विधुरता नहीं है, क्योंकि एकत्वका बोध हो रहा है, तो ऐसा कहनेमें तो इतरेतराश्रय दोष आता है, क्योंकि एकत्वका प्रत्यभिज्ञान होता है यह माना है। तो जब उस एकत्वकी सिद्धि हो तो बाधका भाव बननेसे प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध होगी और जब प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध हो ले तब प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत एकत्वकी सिद्धि होगी। यदि दूसरे प्रत्यभिज्ञानसे पहले प्रत्यभिज्ञानके विषयको याने एकत्वको सिद्ध करेंगे तो अनवस्था दोष होगा। इस शंकापर समाधान करते हैं कि इस तरहकी अनर्गल कल्पना करनेपर तो प्रत्यक्षसे भी प्रत्यक्षके विषयभूत नील आदिक विषयोंको जाननेमें प्रमाणपना सिद्ध करनेपर अन्योन्याश्रय दोष बराबर आता है। कैसे? कि देखो जब वासनाने नील पदार्थ सिद्ध हो जाये तो नीलके प्रत्यक्षमें प्रमाणपना आयेगा और जब नीलके प्रत्यक्षमें प्रमाणपना सिद्ध हो ले तब नील पदार्थकी सिद्धि होगी। यों अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। अगर दूसरे प्रत्यक्षसे पहले प्रत्यक्षके विषयकी सिद्धि मानेंगे तो अनवस्था दोष हो जायेगा। इस कारण जो प्रतीति सिद्ध बात है, सबके अनुभवकी बात है उसका अपलाप करना उचित नहीं है। सभी लोग समझते हैं कि पदार्थ कथञ्चित नित्य है और उस कथञ्चित नित्यस्वरूपका प्रतिभास जो प्रत्यभिज्ञान द्वारा हो रहा है उससे व्यवहार भी बन रहा है और मोक्षमार्गमें या धर्मसाधानमें भी उससे बड़ी सहायता मिल रही है। तो ऐसी प्रतीति सिद्ध बातका अपलाप करना चतुराई नहीं है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसके विषयमें बाधक प्रमाण नहीं है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रमाणकी सिद्धिमें अन्तिम प्रसंगका उपसंहार प्रसंग यहाँ यह चल रहा है कि सिद्धान्त यह स्थापित हुआ था कि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें व्यापी एक द्रव्य प्रत्यभिज्ञान विषय है। एकत्वप्रत्यभिज्ञान इस एकत्वको जानता है और इसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इसपर क्षणिकवादियोंने यह शंकाकी थी कि यहाँ तो दो बातें सिद्धकी जा रही हैं कि पूर्वोत्तर पर्यायोंमें व्यापी एकत्व है और उसका विषय करने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान है और इसमें किसी प्रकारका कोई बाधक प्रमाण है नहीं। तो यहाँ यह आपत्ति आती है कि जब पहले पूर्वोत्तर पर्यायव्यापी एकत्व सिद्ध हो ले तब तो

बाधा विधुररूप सम्वादसे प्रत्यभिज्ञानमें प्रमाणता सिद्ध हो सकती, क्योंकि बाधकके अभावका अर्थ यह है कि प्रत्यभिज्ञानके विषयभूत एकत्वमें कोई बाधक प्रमाण नहीं बनता। तो पहले एकत्व सिद्ध हो तो तब तो बाधकका भाव बताये और जब बाधकभाव सिद्ध हो ले जिससे कि प्रत्यभिज्ञानको प्रमाणता आती तब प्रत्यभिज्ञानसे एकत्व सिद्ध होगा। यों अन्योन्याश्रय दोष होता है। उत्तर यह दिया गया था कि इस तरह अन्योन्याश्रय तो अन्य प्रमाणमें भी लगाया जा सकता। जैसे प्रत्यक्षसे नील पीत आदिक स्वलक्षणमय पदार्थोंको जाना, अब नील आदिकसे वह प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ तो यहाँ यह दोष आयेगा कि जब नील पदार्थ है यह सिद्ध हो ले तब तो प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा और जब प्रत्यक्ष प्रमाण बनेगा तो नील पदार्थ सिद्ध होगा।

इस आपत्तिके निवारणके लिए क्षणिकवादी यह कहते हैं कि हमारे किसी ज्ञानमें प्रमाणपनेकी सिद्धि यथायोग्य अभ्यास बलसेव्ययं हो जाती है, इस कारण अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता, याने नील आदिक पदार्थोंको जानने वाले प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रमाणता अपने आप सिद्ध होती है, क्योंकि ऐसा ही जानने वालोंका अभ्यास है, और कदाचित् अभ्यास न हो तो दूसरे तीसरे प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो जाता है और वह दूसरा-तीसरा प्रमाण अभ्यासके बलपर स्वतःसिद्ध बन जाता है, इसलिए प्रत्यक्ष अपने अर्थका सम्वेदन करता है और वह प्रमाण है, यह अभ्यासवश स्वतःसिद्ध हो जाता है। तब हमारे प्रत्यक्ष प्रमाणमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता। तब इसका उत्तर यही है कि इसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान प्रमाणमें भी अन्योन्य श्रय दोष नहीं लगता, क्योंकि प्रत्यभिज्ञानसे भी अभ्यासके बलसे स्वतः प्रमाणपना सिद्ध हो जाता है। कदाचित् एक-आधे प्रमाणकी और जरूरत पड़ी तो उस अधिक प्रमाणकी भी अभ्यासदशासे भी स्वतःसिद्धि बन जाती है। इस कारण प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है और उसमें कोई दोष सम्भव नहीं है। इस प्रकार एकत्वप्रत्यभिज्ञान निर्दोष रीतिसे सिद्ध हो जाता है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका निर्देशन अब एकत्वप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धिकी तरह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानकी सिद्धि भी समझ लीजिए। सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका विषय है कि अतीत कालमें किसी पदार्थको देखा था और वर्तमानमें किसी अन्य पदार्थको देख रहे हैं और वे दोनों हैं सदृश तो उनमें सदृशताका जोड़ बन जाये। ऐसे ज्ञानको सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तो वह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान अपने और पदार्थका निश्चय करने वाला है, इस कारण वह प्रमाण है। हाँ उससे भिन्न रूपसे जानें तो प्रमाणाभास है याने सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे हों तो दोनों विलक्षण और कह बैठें कि दोनों समान हैं या वे दोनों तो हैं नहीं, है एक ही और कहें कि यह उसके समान है तो यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास हो जाता है। मगर जो समीचीन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है वह तो बराबर व्यवस्थित है।

शंकाकार द्वारा सादृश्यके अभावका प्रस्ताव अब यहाँ शंकाकार कहता है कि दो पदार्थोंमें सादृश्यके ज्ञानकी बात कही गई सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें तो यह बतलाओ कि वह सादृश्य उन दो पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न है? क्योंकि कोई दार्शनिक तो सादृश्यको पदार्थसे न्यारा पदार्थ नहीं मानते, कोई दार्शनिक सादृश्यको स्वतंत्र पदार्थ मानते। तो यहाँ यह विकल्प शंकाकार द्वारा उठाया

जा रहा है कि वह सादृश्य जिनमें सादृश्यता बतायी जा रही है उन पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न? यदि कहो कि भिन्न है तो जब सादृश्य भिन्न है तो यह सम्बन्ध कैसे बताया जा सकता है कि यह सादृश्य उनका है? अगर कहो कि सादृश्यका और उन दोनों पदार्थोंमें सम्बन्ध है तो सादृश्य और सादृश्यवान वे पदार्थ ये जब भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न होनेसे कार्यकारण सम्बन्ध भी नहीं हो सकता तो उनमें सम्बन्ध क्या बन गया? अगर कहो कि समवाय है तो वह समवाय नाम किसका? क्या वह भिन्न है या उनमें मिल-जुला है? तो भिन्न है तो सम्बन्ध बनता नहीं, अभिन्न है तो वही समस्या खड़ी रही। अगर कहो कि हाँ सादृश्यमें और सादृश्यवान पदार्थोंमें अविष्वग्भाव सम्बन्ध है याने एकमेक हो रहे, पृथक्-पृथक् नहीं हैं, यही एक सम्बन्ध है, तब यह बताये कोई कि उससे सादृश्यकी सादृश्यवान पदार्थके साथ सर्वदेशरूपसे एकता है या एकदेशरूपसे एकता है? अगर कहो कि सर्वरूपसे एकता है तो सादृश्य बहुत बन गए।

जैसे किसीने कहा कि यह रोझ गायके सदृश है, तो सदृशता पूरे रूपसे रोझमें भी एकमेक है, और सदृशता गायमें एकमेक है, तो दो सदृशतायें हो गईं। जब दो सदृशतायें हो गयीं तो अब उसकी बातमें सदृशता न लगाइये, क्योंकि सदृशता तो दो हैं। यदि कहो कि वह सादृश्य सादृश्यवान पदार्थोंमें एकदेश रूपसे एकमेक है तो जब एकदेश रूपसे एकमेक है सदृशता तो सदृशताके अवयव बन गए याने सदृशताका कुछ अंश इन दोनोंमें एकमेक है। तब, जब सदृशताके अवयव बन गए तो उसमें भी प्रश्न होगा, उन अवयवोंके साथ इस अवयवी सदृशताका क्या सम्बन्ध है? तो प्रयोजन यह है कि सादृश्यको पदार्थोंसे भिन्न माननेपर सम्बन्ध नहीं बनता।

क्षणिकवादी ही कहे जा रहे हैं अपनी शंकाकी पुष्टिमें कि सादृश्यप्रत्यभिज्ञान बनता नहीं, क्योंकि सादृश्य कुछ चीज नहीं। सादृश्य पदार्थसे भिन्न तो है नहीं। यदि कहो कि अभिन्न है याने जो पदार्थ सदृशता बतायी जा रही उन पदार्थोंसे सदृशता अभिन्न है तब फिर सदृशतासे अभिन्न जो पदार्थ है वह भी एक बन जायेगा, क्योंकि सदृशता एक है और व दोनोंमें अभिन्न है तो वे पदार्थ दो कहाँ रहे? एक ही रह गया। अगर कहो कि पदार्थ जब दो हैं तो सदृशता भी दो हैं। तो फिर एकपनेका विरोध बन जायेगा। इस कारण सदृशता उन पदार्थोंसे भिन्न भी है, अभिन्न भी है तो इसमें फिर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, दो धर्म आ गए। दो धर्मोंमें दो आधार हो गए, एकमेक हो गए। यदि अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तो विचार करनेपर सादृश्य कोई धर्म ही नहीं रहता, केवल कल्पनाकी ही चीज रहती है तो उसको विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी कोई चीज न रहा। वह प्रमाण न माना जाना चाहिए। अगर कल्पनामें आयी हुई बातको सच्चाईका रूप दे दें तो किसीके चित्तमें राज्य करनेकी कल्पना आयी तो क्या वह सच बन गया? इस तरह सादृश्य कोई वस्तु नहीं। तो सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी कोई प्रमाण नहीं है, ऐसी क्षणिकवादियोंने एक आशंका रखी।

सादृश्यके खण्डनमें दी गई युक्तियों द्वारा वैसादृश्यके खण्डनकी सुगमताका प्रदर्शन करते हुए उक्त शंकाका समाधान अब उसके समाधानमें आचार्य कहते हैं कि जैसा विकल्प सादृश्यके खण्डनमें

किया गया है वैसा ही विकल्प वैसादृश्यके खण्डनमें भी किया जा सकता है। किस तरह, देखिये बतायें क्षणिकवादी कि जो वैसादृश्य है, विलक्षणता है, वह पदार्थोंसे भिन्न है या अभिन्न? अगर कहो कि भिन्न है तो जब विलक्षणतारूप धर्म उन पदार्थोंसे भिन्न है, जिसकी विलक्षणता कही जायेगी तो उस विसदृशता उन पदार्थोंसे सम्बन्ध ही न बन सकेगा। फिर यह कैसे कहा जायेगा कि यह पदार्थ उससे विसदृश है, विलक्षण है? यदि कोई उसका सम्बन्ध माना जाये याने विसदृशता जिन पदार्थोंमें बतायी जा रही है उन पदार्थोंसे इस विसदृशताका सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध क्या? कोई अन्य सम्बन्ध तो है ही नहीं। यदि कहो कि वह सदृशताका उन पदार्थोंके साथ एकमेकपना है तो यह बतायें कि सर्व रूपसे एकमेकपना है या कुछ-कुछ रूपसे? अगर सर्वरूपसे है तो विसदृशतायें अनेक हो गई, क्योंकि वे अनेक हैं जिनमें विलक्षणता बतायी जा रही है। अगर एक रूपसे है विसदृशता उन पदार्थोंमें एकमेक तो विसदृशता अवयववान हो गया। विसदृशता ऐसी लम्बी-चौड़ी चीज है कि जिसका एकदेश पदार्थमें एकमेक हो रहा। तो विसदृशता तो स्वलक्षणसे भिन्न माननेसे सिद्ध न हुआ और अभिन्न माने तो भी दोष है। भिन्न अभिन्न माने तो दोष है। जो भी दोष क्षणिकवादियोंने सदृशताके खण्डनके लिए कहे थे कि वे समस्त दोष विसदृशतामें भी आते हैं तो यों पदार्थोंमें वैलक्षण्य भी सिद्ध नहीं होता। जब वैलक्षण्य सिद्ध न हुआ तो अपने आप सदृशता सिद्ध हो गई। प्रत्यभिज्ञानका फिर कैसे खण्डन किया जा रहा है?

वस्तुके सामान्यविशेषात्मकत्वके निराकरणकी अशक्यता अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बहुत कहनेसे क्या लाभ? हम न तो सदृशताको परमार्थ वस्तु मानते हैं और न विसदृशताको परमार्थ वस्तु मानते हैं, क्योंकि अर्थक्रिया जैसे सदृशतामें नहीं वैसे ही विसदृशतामें भी नहीं, किन्तु सदृश और विसदृश दोनोंसे रहित जो पदार्थ है, स्वलक्षण है, निरंश वस्तु है, वही अनेक क्रियावोंका करनेमें समर्थ है। तो इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि सदृशता और विसदृशतासे पृथक् कुछ भी स्वलक्षण प्रमाणसिद्ध नहीं होता।

जैसे कि आकाशका फूल सामान्य और विशेष दोनोंसे रहित है, क्योंकि कुछ ही नहीं तो वह प्रमाणसिद्ध नहीं है, ऐसे ही सदृशता और विसदृशतारहित याने सामान्य और विशेष से रहित कोई पदार्थ नहीं होता। जितने भी पदार्थ हैं वे सब सामान्यविशेषात्मक ही होते हैं, क्योंकि जो है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और जब है तो प्रति समय उसमें अवस्थायें भी हुआ करती हैं, तो जो अवस्थायें हैं वह तो हैं विशेष और जो मूल वस्तु है वह है सामान्य। सामान्यविशेषात्मक ही सत् होता है। सामान्यका मतलब सादृश्यसे बनता है विशेषका महत्व वैसादृश्य बनता है। इस तरह पदार्थ सादृश्य और वैसादृश्यसे रहित कुछ नहीं हुआ करता है।

ज्ञान द्वारा वैसादृश्यकी भांति सादृश्यका भी स्पष्ट प्रतिभास अब यहाँ शंकाकार कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञानमें प्रतिभासमान जो पदार्थ है वह तो स्पष्ट पदार्थ है, स्वलक्षण है, फिर वैसादृश्यका, क्षणिक पदार्थका कहाँ निराकरण किया जा सकता है? इसके उत्तरमें समाधान यह है कि प्रत्यक्षके

ज्ञानमें तो जैसे विशेष प्रतिभासित होता है ऐसे ही सामान्य प्रतिभासित होता है। बल्कि हम सब 4लोगोंको प्रत्यक्षमें सामान्य स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा और सामान्य न हो याने अनेक क्षणोंमें वे पदार्थ न रहते हों तो उसका प्रतिभास भी नहीं हो सकता। तो वर्तमानकालमें जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनमें पूर्वोत्तर समयमें समान आकार है अथवा एक-दूसरेमें समान आकार है, ऐसा स्पष्ट प्रत्यक्षमें आ रहा है। तो जिस प्रत्यक्षसे पदार्थोंका भिन्न-भिन्न स्वभाव दृष्टिमें आता है कि यह इससे न्यारा है, यह इससे भिन्न है, ऐसा एक व्यावृत्ति बुद्धिसे याने यह इससे अलग हटा हुआ है ऐसी बुद्धिसे जैसे पदार्थोंमें विशेष प्रतिभासित होता है उसी प्रकार यह उनके समान है, यह द्रव्य है, ऐसा सादृश्य भी, सामान्य भी अन्वय बुद्धिके द्वारा स्पष्ट दिख रहा है। इस तरह सदृश और विसदृश धर्मस्वरूप पदार्थ है, स्वलक्षण है, यह सिद्ध हो गया। ऐसा न माना जाये तो वस्तु सिद्ध नहीं होता है और जब यह सामान्य हो गया, सादृश्य सिद्ध हो गया तो उसे आलम्बन कर जो प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा सादृश्यप्रत्यभिज्ञान भी वास्तविक ज्ञान है और प्रमाणभूत है। इसमें किसी भी प्रकारकी बाधा नहीं आती।

प्रत्यभिज्ञानमें बाधकाभाव बतानेके प्रसंगमें प्रत्यक्षज्ञान द्वारा सादृश्यकी अबाधकता तथा साधकता सादृश्यप्रत्यभिज्ञानका विषय पदार्थोंका सामान्यस्वरूप है उसके विरोधमें शंकाकार कहता है कि पदार्थोंका सामान्यस्वरूप जो प्रतिभासमें आ रहा है वह तो भ्रान्त है अर्थात् सामान्यस्वरूप नहीं है। पदार्थोंका तो विशेष ही स्वलक्षण स्वरूप है अर्थात् प्रत्येक पदार्थका स्व-स्व जो-जो भी लक्षण है वह ही उसका स्वरूप है। तो अवस्तुभूत सामान्यका प्रतिभास होना भ्रान्त है, ऐसी आशंकापर यह उत्तर दिया जा रहा है कि यों तो अर्थात् सादृश्यको यदि भ्रान्ति वाला प्रतिभास मानो तो वैसादृश्यको भी ऐसा कह सकते याने एक दूसरे पदार्थसे सर्वथा भिन्न स्वरूप है उसका प्रतिभास हुआ करता है, यह भी भ्रान्त क्यों न हो जायेगा? पदार्थोंमें सादृश्य यदि भ्रान्त है तो वैसादृश्य भी भ्रान्त है। यदि इसका यों समाधान करे शंकाकार कि वैसादृश्य जाननेमें बाधक प्रमाण नहीं आता इसलिए वह सही है तो ऐसा ही उत्तर यहाँ है कि सामान्यका स्पष्ट प्रतिभास होनेमें बाधक प्रमाण कोई नहीं है। अगर विशेषरूपसे निर्णय करें तो देखिये, करिये वस्तुमें जो सामान्यस्वरूपका प्रतिभास होता है उसका बाधक क्या प्रत्यक्ष ज्ञान है? प्रत्यक्ष ज्ञान तो सादृश्यका बाधक नहीं है बल्कि साधक है। कोई पुरुष प्रत्यक्षमें पदार्थको देखकर बहुत प्रयत्न करके ऐसा मन बनाये कि मैं स्वलक्षणोंको देख रहा हूँ तो ऐसा मन बना रहने वाले पुरुषके भी स्थूल स्थिर सामान्य आकार वाले पदार्थका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है और अर्थक्रिया भी उस ही सामान्यके स्पष्ट प्रतिभासके बलपर चलती है। प्रत्यक्ष द्वारा कोई कहे कि सर्वथा सूक्ष्म क्षणिक विसदृश पदार्थ दिख रहा है तो इस बातकी पुष्टि करने वाला यहाँ कोई न मिलेगा, किन्तु स्थूल, दूसरे समय तक ठहरने वाले सदृश्य पदार्थका लोगोंको स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है। तो जिस प्रत्यक्ष द्वारा विशेष प्रतिभासमें आता है उससे भी अधिक स्पष्ट प्रतिभास होता है एकका, बहुत काल रहने वाले पदार्थका, उस सादृश्यका। जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा उसमें कोई

बाधक प्रमाण नहीं आता। अन्यथा सदृश पदार्थकी स्मृति कैसे बनेगी? जिसको स्मरण होता है उसको पहले जाने हुएका ही स्मरण होता है। तो सदृश पदार्थ जाना गया तब ही तो सदृश पदार्थका स्मरण होता है। तो जिसको भी सादृश्यकी स्मृति हो रही है समझ लो कि अभी पहिले सादृश्यका प्रत्यक्ष हुआ था तो इस तरह सादृश्य धर्म है और उसका प्रत्यभिज्ञान करने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान प्रमाण है। उसमें प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा नहीं आती।

अनुमान प्रमाणसे भी सादृश्यकी अबाध्यता अब यदि कोई ऐसी जिज्ञासा रखे कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधा नहीं आती तो अनुमान प्रमाणसे सादृश्यमें बाधा आ जायेगी, सो भी सही नहीं है, क्योंकि सामान्यको स्पष्ट रूपसे समझनेमें अनुमान बाधकप्रमाण नहीं बनता, क्योंकि ऐसा अनुमान भी जो कि सामान्यका बाधक बने, उसको उत्पन्न करने वाला कोई हेतु नहीं है। शंकाकार यदि यह कहे कि प्रत्येक पदार्थ जब अपने-अपने स्वभावमें स्थित हो रहे हैं तो यही हेतु पर्याप्त है कि जिससे यह सिद्ध हो जायेगा कि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, कोई किसीके सदृश नहीं है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थित है। इससे सिद्ध हो जाता है कि सर्व पदार्थ विसदृश ही हैं। यह अनुमान सादृश्य ज्ञानका बाधक बन जायेगा। इसका समाधान तो बहुत ही सुगम हो रहा है जो अनुमान बनाया है शंकाकारने वह साध्यको सिद्ध नहीं करता, किन्तु शंकाकारके इष्टसे विपरीत हो जाता है। शंकाकारने हेतु यह दिया कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थित है। इस हेतुसे तो यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप हैं। यदि पदार्थ सामान्यविशेषात्मक न हो तो वह अपने स्वभावमें व्यवस्थित नहीं रह सकता। तो सम्पूर्ण पदार्थ जो अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थित हैं ऐसा बोध हो रहा है, यह ही इस बातको सिद्ध करता है कि पदार्थ सामान्यविशेषपरिणामस्वरूप है, क्योंकि पदार्थका स्वभाव ही सिद्ध न बनेगा यदि विशेष न बनेगा। और देखो आश्चर्यकी बात, जिसका परिचय ही नहीं बन रहा उसकी तो शंकाकार कल्पना कर रहा और जिस स्वभावकी प्रतीति चल रही उसका निराकरण कर रहा। तो ऐसे शंकाकार यह बतायें कि जो यह हेतु प्रयुक्त किया है शंकाकारने कि चूँकि पदार्थ अपने-अपने स्वभावमें व्यवस्थित है, सो जो विसदृश अर्थको सिद्ध करनेके लिए किया ना तो यह बतलायें वे कि जिस प्रकार ठीक-ठीक दिख रहा है सबको, शंकाकारको भी, अन्य वादियोंको भी, क्या उस ही प्रकारसे हेतु स्वीकार है या अन्य प्रकारसे शंकाकारको हेतु स्वीकार है? यदि कहो कि जैसा ठीक-ठीक दिख रहा है वैसा ही स्वीकार है तब तो उनका हेतु विरुद्ध हो जायेगा। क्योंकि जो कुछ दिख रहा है वह सदृश विदृश्यपरिणामात्मक ही दिख रहा है। बराबर यह भी ज्ञान होता कि यह पदार्थ इससे भिन्न है और यह भी ज्ञान होता है कि यह पदार्थ इसके सदृश है और निरपेक्षतया भी प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है। जो मूल सत्त्व है वह सामान्य है और जो अवस्था है वह उसकी पर्याय है। तो जिस प्रकार ठीक दिख रहा उसी प्रकारके स्वभावमें व्यवस्थित है, यह माननेपर तो कोई विवाद ही नहीं है और यदि ऐसा स्वीकार करें कि शंकाकारने जैसा अपने मनमें माना ऐसे स्वभावमें व्यवस्थित है और ऐसेको ही

सत् कहते हैं तो यह बात स्वरूपसिद्ध है। प्रतीतिके विरुद्ध अपने आपके घरमें, मनमें अटपट कुछ भी मान लिया जाये तो उससे पदार्थकी व्यवस्था तो नहीं बनती। जो हेतु स्वयं असिद्ध है वह साध्यको सिद्ध कैसे कर सकता है? इससे जैसा लोगोंको, सबको प्रतीति हो रही है वैसा ही पदार्थ स्वरूप मानना चाहिए।

प्रतीतिसिद्ध सादृश्यके निराकरणके प्रयासकी व्यर्थता अब शंकाकार कहता है कि जिस तरह हमको दोष दिया जा रहा है उस प्रकारका दोष तो समस्त हेतुवोंमें लग जायेगा। अच्छा कोई यह बतलाये कि जो सारा जगत ही धूमको अग्नि सिद्ध करता है तो वह धूम हेतु क्या बना अग्निजन्य है? याने अग्निसे जन्य है यह धूम ऐसा सिद्ध करनेके लिए जो हेतु दिया जा रहा है वह धूम क्या अग्निजन्य मानते हो या अनग्निजन्य मानते हो? अगर अनग्निजन्य मानते हो तो तब तो हेतु विरुद्ध हो गया। वह धूम यदि अग्निजन्य है, ऐसा मानकर हेतु देते हो तो यह बात अभी तक पक्षमें सिद्ध थोड़े ही हुई, क्योंकि अग्निको ही तो सिद्ध करनेके लिए हेतु दिया गया है और कहे कि अग्निजन्य है तो वह बिल्कुल विरुद्ध पड़ जाता है कि धूमसे तो फिर अग्निका अभाव ही सिद्ध होगा। और यदि कोई कहे कि अग्निजन्य है या अनग्निजन्य है, इस विवादको तो गौण करो। यह विवादमें पड़ा है, ऐसा ही मान लो और जो एकदम उसका प्रभाव पड़ रहा है कि कंठ रुंध गया, नेत्रोंमें आंसू आ रहे, चारों ओर फैल रही, कुछ काला-काला रंग बन रहा, इन बातोंसे जो प्रसिद्ध है वह धूम यहाँ हेतु है, इतना ही मानना चाहिए। यदि ऐसा कोई कहे तो शंकाकार कह रहे हैं कि हम भी यह कहें कि हमारा तो सात्त्वादिक हेतु है वह विरुद्ध नहीं है। पदार्थोंकी विलक्षणता सिद्ध करनेके लिए असिद्ध नहीं है, ऐसी शंकाकार अपनी भावना रख रहा है। उसके समाधानमें सुनो। सत्त्वादिक हेतुवोंके विवादमें यह सदृशता और विसदृशता विशेषण पड़ा है और कोई शंकाकाराभिमत प्रसिद्ध स्वभाव चल रहा है, ऐसा तो कुछ दिख नहीं रहा। जहाँ पदार्थको सामान्यविशेषतात्मक न माना जाये वहाँ कोई स्वभाव सिद्ध नहीं हो सकता। शंकाकार यदि कहे कि उसमें अर्थक्रिया करे वह तो प्रतीतिसिद्ध है। जो परमार्थ है वह कल्पित नहीं है और जो कल्पित है वह परमार्थ नहीं हो सकता और कल्पित पदार्थ हेतु नहीं बन सकता। तो जो परमार्थ है वस्तु सदा रहती है और उसकी अवस्थायें बदलती रहती हैं, ऐसा यथार्थ माननेमें कौनसी पीड़ा है? प्रतीतिका अपलाप करके अन्य-अन्य कुछ कल्पनायें करना यह तो बुद्धिमत्ता नहीं कहलाती। क्षणिकवादियोंने वस्तुका जो स्वरूप स्वलक्षण माना तो प्रत्येक पदार्थका अपना ही निजका जो स्वरूप है, स्वलक्षण है और यह सबका परस्परमें भिन्न ही है, ऐसा जो कहते हैं सो भवान्तर सत्ताकी दृष्टिसे तो प्रत्येक पदार्थ भिन्न ही है, परस्पर एक-दूसरेसे। लेकिन जातिकी दृष्टिसे समानता आती है और उस सदृशताका आबालवृद्ध परिचय चल रहा है। उस सदृशताका परिचय अनेक ढंगसे होता है। कोई चीज कभी देखी भी न थी और केवल पुस्तकोंमें उसका वर्णन सुनते आये और कदाचित् आँखों दिख जाये तो झट प्रत्यभिज्ञान हो जाता कि जो वर्णन पुस्तकोंमें है वही चीज देखो सामने आ गई। तो सादृश्य तो सबको अत्यन्त प्रसिद्ध हो रहा है। उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

पदार्थोंके एकत्व और सादृश्यकी एवं प्रत्यभिज्ञानके प्रमाणत्वकी संसिद्धि अब यहाँ शंकाकार कहता है कि जो कुछ ऐसा प्रतिभास हो रहा है कि पदार्थ वहीका वही है, एक है और यह उसके समान है, ऐसा एकत्व और सादृश्यका प्रतिभास करने वाली जो प्रतीति है वह तो अज्ञानवश हो रही है। ऐसा कहने वाला शंकाकार एकदम अपने अज्ञानको प्रकट कर रहा है, यह अज्ञान दूसरोंका नहीं है। सारा लोक एक और सदृशका बोध कर रहा है। पर शंकाकारको ही अविद्याका उदय है इस कारणसे जो यथार्थ है, प्रतीतिसिद्ध है उसका अपलाप किया जा रहा है। पदार्थमें एकत्व और सादृश्य है, इसका ज्ञान भी होता है वह बाधारहित है, क्योंकि पदार्थ सहभावी विशेषोंमें भी है और क्रमभावी विशेषोंमें भी व्यापी है, याने पदार्थके जो गुण हैं, जो शक्तियां हैं, जो एक साथ रहती हैं उनमें भी व्यापक है। भेददृष्टिसे गुण जो जाने गए उनमें व्यापक है और क्रमसे होने वाली अवस्थायें हैं उन अवस्थावोंमें व्यापक है। ऐसा एक द्रव्य एक रूपसे भले प्रकार प्रतीत हो रहा है और इसी प्रकार सादृश्य भी पर्यायसामान्यमें प्रतिभासित हो रहा है। जो-जो पर्यायें, अवस्थायें एकसमान दृष्टिमें आती हैं उनमें समानताका भी ज्ञान हो रहा है और समानताका इतना स्पष्ट प्रतिभास होता है कि जिससे एकत्वका विचार भी बनने लगता है। तो एकत्व विषय है, सादृश्य विषय है और उसको जानने वाला जो ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है वह प्रमाण है। इस प्रकार “मतिः स्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽमिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्” इस सूत्रमें जो मतिज्ञानके जातीयज्ञान बताये गए हैं उनमें मति याने सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति अर्थात् स्मरणज्ञान और संज्ञा अर्थात् प्रत्यभिज्ञान इन तीन मतिज्ञानके प्रकारोंका वर्णन किया गया है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताकी प्रसिद्धि अब तर्क ज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमें वर्णन करते हैं। जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थके सम्बन्धका समस्त देश, कालका उपसंहार करने वाली व्याप्तिके स्वरूपसे खूब निश्चय करके अनुमान करने वाला जीव प्रवृत्ति करता है उसे तर्कज्ञान कहते हैं, अर्थात् तर्क ज्ञानमें साध्य-साधनके सम्बन्धकी व्याप्ति ज्ञानमें रहती है। अमुक चीज न हो तो अमुक चीज नहीं होती, अमुकके होनेपर अमुक होता है, इस प्रकारका सर्व देश कालोंमें दृष्टि दौड़ाकर जो सम्बन्ध निश्चित किया जाता है उसका नाम तर्क ज्ञान है, सो यह तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि उसमें सम्वाद है और उससे अनुमानकी प्रवृत्ति बनती है। कोई पूछे कि यह सम्बन्ध क्या वास्तविक है? तो उसका उत्तर है कि हाँ वास्तविक है। क्यों वास्तविक है कि उसमें सम्वाद पाया जाता है। सम्वादसे ही तो ज्ञानोंकी प्रमाणता ज्ञातकी जाती है। तो सम्बन्धके जाननेमें संवाद बराबर है, इसलिए तर्कज्ञान प्रमाण है। वह सम्बन्ध कल्पित नहीं है किन्तु वह वास्तविक है, क्योंकि वह संबन्ध अर्थकारी है। उस संबन्धमें यथार्थताका प्रकाश करने वाली बुद्धि उपयोग कर रही है। अनेक पदार्थ भिन्न-भिन्न जुड़े हैं। उन भिन्न-भिन्न पदार्थोंको निरखनेमें वैसा ही प्रतिभास चल रहा है और जब उनका सम्बंध सोचते हैं, युक्तियां आती हैं, अमुक-अमुकका सम्बन्ध होनेपर अमुकका अभाव होता है, इसका अविनाभाव सम्बन्ध है आदिक अनेक रहस्य विदित होते हैं तो सम्बन्ध एक सम्वादी ज्ञान है, उससे एक

यथार्थताका निश्चय होता है। तो व्याप्तिज्ञान अर्थात् तर्कज्ञान अपने इष्टका ज्ञान करता है। पदार्थका प्रतिभास करनेसे यह प्रमाण है।

सम्बन्धका अर्थक्रियाकृत्य अब कोई यहाँ जानना चाहे कि सम्बन्धकी अर्थक्रिया क्या कहलाती है तो विचार करें अर्थक्रिया तो वास्तविक मूलमें यही होती है कि उसका प्रकाश चलता है, ज्ञान चलता है, जानकारी होती है। सम्बन्धके अधीन होकर रहने वाली जो पदार्थकी सम्बन्धिता है अर्थात् अमुक-अमुक पदार्थ सम्बन्धित है, इस प्रकारका सम्बन्ध है, बस ऐसा सम्बन्ध हो जाना, बंध जाना, उसका निमित्त प्रभाव होना यह भी तो सम्बन्धकी अर्थक्रिया है और सम्बन्धका ज्ञान कर दिया यह सम्बन्धकी अर्थक्रिया है। सम्बन्ध होनेके प्रभाव विचित्र होते ही हैं। जैसे कुछ औषधियोंको मिला दिया जाये तो वहाँ विशिष्ट रोग दूर हो जाता है, वह बात केवल एक भिन्न-भिन्न औषधियोंसे नहीं बनती। तो सम्बन्ध यदि न हो या सम्बन्धको मात्र कल्पित माना जाये तो यह प्रभाव तो विचित्र होता है, जिससे लोग लाभ-हानि उठाते हैं, वह कैसे बने? तो सम्बन्धके अन्वयव्यतिरेकका विधान करने वाला जो सम्बन्धीपन है उसका बराबर ज्ञान होता रहता है, बस यह मौलिक अर्थक्रिया है जो यह विषय बन रहा है। सम्बन्धका रहस्य जाननेमें आना, सम्बन्धकी अर्थक्रिया है। जैसे नीले रंगसे वस्त्र रंग दिया अब उस वस्त्रमें नीलके साथ एक सम्बन्ध बन गया तो अब उस सारे वस्त्रमें तो नीलापना फैला है या नीलका जो भी वस्त्रके साथ फैलाव बन रहा है वही तो नील रंगकी अर्थक्रिया है, क्योंकि कपड़ा नीला है, इसकी सिद्धि उस नील रंगसे ही तो बनती है, और कपड़ा नीला है, ऐसा ज्ञान हो गया इसमें ही तो नीलके सम्बन्धकी अर्थक्रिया प्रतिभात होती है। तो जिस सम्बन्धसे बड़े-बड़े हल निकाले जाते, जिस सम्बन्धके ज्ञानसे बड़ा उपयोगी अनुमान बनता है उसे क्या अर्थक्रिया न कहेंगे?

सम्बन्धकी सिद्धि यहाँ शंकाकार कहता है कि सम्बन्धपना कुछ भी वास्तविक नहीं है, किन्तु विशिष्ट अर्थ है याने निकट पहुंचे हुए, चिपटे हुए, ऐसी विशेष परिस्थितिमें बने हुए जो पदार्थ हैं बस वे तो वास्तविक हैं, उनको छोड़कर सम्बन्ध नामका कुछ और सत्त्व नहीं है। इस आशंकाका समाधान तो स्वयं ही शंकामें बना हुआ है। वह पदार्थोंकी जो विशिष्टता है याने निकट पहुंचे हुए, चिपटे हुए आदिक जो पदार्थकी परिस्थिति है वह ही तो सम्बन्ध है। सम्बन्धके अभावमें पदार्थोंकी ऐसी परिस्थिति विशिष्टता कैसे बन जायेगी? अगर कहो कि अपने कारणसे ही वह विशिष्टता बन जाती है पदार्थोंमें तो बस उसके नाम ही का भेद रहा। चाहे विशिष्टता कह लो, चाहे सम्बन्धिता कह लो, निकट पहुंचे हुए पदार्थोंकी विशिष्टता ही तो सम्बन्धिता है। वह निकट है, यही तो सम्बन्ध कहलाता है। तो मिले हुए पदार्थोंमें सम्बन्धीपना है, इसकी सिद्धि प्रमाणसे है, इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं। अग्निपर कोई चीज पड़ जाये तो वह जल जाती है। क्या हो गया? वह सम्बन्धका ही तो प्रभाव है। भोजन आदिक बनाये जाते हैं तो यह सब सम्बन्धका ही तो प्रभाव है। अगर ऐसे सम्बन्धको केवल कल्पनामात्र ही माना जाये कि लोगोंके चित्तमें ऐसी वासना बस गई, अज्ञान है कि वे सम्बन्ध समझ लेते हैं। तो जो वास्तविक ज्ञान हो रहा उसका अगर वासना हेतुक कह दिया जाये तो सारे ज्ञानोंको

यों कहा जा सकता है कि सभी वासना और भ्रमसे ज्ञान हो रहे हैं। फिर तो वास्तवमें कोई भी पदार्थ अर्थक्रियाकारी न रहेगा और न वस्तुकी व्यवस्था बन सकेगी। फिर तो यदि कोई ऐसा कहने वाला भूखा हो, प्यासा हो या रोगी हो जाये, सिरमें पीड़ा हो जाये तो उसको यही कहना चाहिए कि यह तो वासनासे ज्ञान हो रहा, है कुछ नहीं। तुझे पीड़ा नहीं है, भूख नहीं है, यों तो सारे व्यवहारका लोप हो जायेगा। तो सम्बन्ध वास्तविक चीज है और उसकी अर्थक्रिया होती है। उस सम्बन्धमें ज्ञानमें बराबर सम्वाद है इसलिए सम्बन्ध ज्ञान प्रमाण है और उससे ही तो जब एक सामान्य रूपसे व्याप्ति बनाकर जाना जाता है तो उसीका नाम तर्कज्ञान है। शंकाकार ऐसा मानना चाहता है कि वास्तविक पदार्थ वह है जो आत्माके संतोषका कारण बने तो शंकाकार यह बताये कि स्वप्नमें जो पदार्थ देखा जाता है उससे भी तो कुछ काल तक संतोष रहता है, तो क्या वह भी वास्तविक हो गया? कभी स्वप्नमें धन-वैभव देखते हैं तो बड़ा संतोष होता है। यदि इसका उत्तर देने वालोंने स्वीकार कर लिया कि जागृत दशामें तो ज्ञान हो रहा है उसमें सच्चाईका निर्णय होता है तो फिर यह सम्बन्धका ज्ञान, यह जागृत दशामें ही तो किया जा रहा है, कोई स्वप्नमें तो नहीं किया जा रहा है। वह तो प्रमाणभूत है। उसमें बाधक प्रमाण नहीं है।

तर्कज्ञानकी अबाध्यता जो सम्बन्धको नहीं मानते, ऐसे शंकाकार यदि यह कहें अपने ही घरमें रहकर कि सम्बन्धकी अर्थक्रियामें बाधक ज्ञान बन रहा है तो ऐसा तो अन्य दार्शनिक भी कह सकते हैं कि शून्य ही तत्त्व है, और उसके अतिरिक्त कोई कुछ माने तो उसमें बाधक ज्ञान है, या अद्वैत ब्रह्म ही तत्त्व है। उसमें इन शून्यवादी व ब्रह्मवादीके विरुद्ध कोई कुछ कहे तो उसमें बाधक ज्ञान है, यों कह दिया जावेगा तो कहने मात्रसे तो बाधकता नहीं हो जाती। जिस किसीको भी कह दें कि “अज्ञानमें कह दिया” तो ऐसा कहनेसे कहीं अज्ञान तो सिद्ध नहीं हो जाता? यों तो ऐसा कहने वालोंके ही अज्ञान है। तो तर्कज्ञानका विषय है संबन्ध। उसका ज्ञान निर्वाध हो रहा। लोग तर्कज्ञानसे सम्बन्धका निर्णय कर अनुमानकी प्रवृत्ति करते हैं, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, इसमें संदेहकी गुंजाइश नहीं है।

तर्कज्ञानके बलसे उत्पन्न हुए अनुमानज्ञानकी प्रमाणता होनेसे तर्कज्ञानमें प्रमाणत्वकी सिद्धि तर्कज्ञान प्रमाण है क्योंकि तर्कज्ञानके कारणसे उत्पन्न हुआ अनुमानज्ञान प्रमाण है। अनुमान ज्ञान प्रमाण है इससे सिद्ध है कि उसका कारणभूत ज्ञान तर्क भी प्रमाण है। कारणभूत ज्ञानके प्रमाण होनेपर ही कार्यभूत ज्ञान प्रमाण होता है। तो तर्कपूर्वक होने वाला अनुमान संवादी है, इससे सिद्ध है कि तर्कज्ञान भी संवादी है। यदि तर्कज्ञानमें विसंवाद होता अर्थात् तर्कज्ञान अप्रमाण होता तो अनुमानज्ञान कभी भी प्रमाण न हो सकता था। यह एक इतना प्रबल प्रमाण है कि जिसके कारण तर्ककी प्रमाणतामें संदेह नहीं रहता। कोई कहे कि तर्कज्ञानमें संवाद नहीं है, क्योंकि तर्कज्ञान अत्यन्त भूतके, अत्यन्त दूरके पदार्थोंको विषय करता है। तो यह शंका करना ठीक नहीं है। तर्क ज्ञानका विषय ही बहुत महान है। जिन-जिनका सम्बन्ध व्याप्ति बनती है उन-उनके बारेमें किसी भी जगह, किसी भी

कालमें व्यभिचार न आ सके, ऐसी तर्कणा करके ही इस तर्ककी उत्पत्ति होती है। तर्कके संवादमें सन्देह करनेपर अनुमान प्रमाणको निःशंक कभी न कहा जा सकेगा और अनुमान अप्रमाण होता है और अनुमानके अप्रमाण होनेपर प्रत्यक्ष अप्रमाण होता है, क्योंकि प्रत्यक्षकी प्रमाणताकी सिद्धि अनुमान प्रमाणसे बनती है। अब अनुमान प्रमाण तो सारे झूठे कहे जा रहे हैं तो प्रत्यक्षकी भी सिद्धि न होगी, इस कारण प्रमाण चाहने वाले पुरुषोंको अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान ये प्रमाण बने रहें, ऐसी भावना रखने वाले पुरुषोंको तर्कज्ञानको भी प्रमाण मानना चाहिए। सभी वादियोंको अपने इष्टकी सिद्धि करना तो कर्तव्य ही है। जो लोग प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण मानते हैं उनको इन दो प्रमाणोंकी रक्षाके लिए तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा। प्रत्यक्ष प्रमाण मानने वालोंको जैसे अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है इसी प्रकार अनुमान प्रमाण मानने वालोंको तर्क प्रमाण मानना ही पड़ेगा, क्योंकि व्याप्तिका ज्ञान हुए बिना अनुमान प्रमाणकी उत्पत्ति नहीं होती।

तर्कज्ञानकी अपूर्वार्थविषयता अब यहाँ शंकाकार कहता है कि तर्कज्ञान तो अप्रमाण है क्योंकि वह गृहीत पदार्थोंको ही ग्रहण करता है। जैसे तर्क प्रमाणसे जाना कि जहाँ-जहाँ धुवां होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवां नहीं होता तो इसने अग्नि और धूमके सत्त्व और असत्त्वको ही तो जाना और यह पहले प्रत्यक्ष प्रमाणसे जान लिया गया था। तो जो पहले प्रमाणसे ग्रहण कर लिया गया उस ही को ग्रहण किया तर्कने, इस कारण तर्क अप्रमाण है, ऐसी शंका होनेपर यह समाधान समझना चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण ही है, क्योंकि वह अपूर्व अर्थका जाननहार है। जो अपूर्व अर्थका जाननहार है सो प्रमाण है, ऐसा सभी स्वीकार कर रहे हैं, तो तर्कज्ञान भी अपूर्व अर्थको जानता है। कैसे हुआ वह अपूर्व अर्थ? जो पहले प्रत्यक्षके द्वारा सद्भाव और असद्भाव रूपमें जाना गया था वही तर्कज्ञानमें अपूर्व अर्थ बन जाता है। कैसे? जो पहले प्रत्यक्षज्ञानने सद्भाव और असद्भावको जाना था वह नहीं जाना गया था जैसा तर्कज्ञानमें जाना गया, किन्तु तर्कज्ञानमें उपयोग विशेष बनना और उन दोनोंका सम्बन्ध और तर्कणा विषय रहा, इस कारण तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका जाननहार है और प्रमाणभूत है। प्रत्यक्ष प्रमाणने तो एकदेश बात जाना था। अग्नि थी तो अग्नि जान ली थी, धुवां था तो धूम जान लिया था और अनुपलम्भका भी याने अग्नि न मिली, न धुवां मिला, इतना ही जाना था, पर तर्कज्ञानने इन दोनोंके सम्बन्धके बारेमें समझा जो कि उन दोनोंके ज्ञानसे अधिक है, अपूर्व अर्थ है। प्रत्यक्षज्ञानसे या अनुपलम्भ ज्ञानसे साध्य सावनके सम्बन्धमें ज्ञान नहीं हो रहा था, किन्तु अब उसके सम्बन्धका जानना हो रहा है तो इस प्रकारका विशेष उपयोग तर्कमें चल रहा है। पहले तो एकदेश ही सम्बन्ध समझा था, थे भी दोनों एक साथ, तो बस उस ही जगह का, उस ही समयका सम्बन्ध भी जाना गया था, लेकिन अब सम्पूर्ण रूपसे सब कालों में, सब देशोंमें व्याप्तिके रूपसे जाना जा रहा है तो ऐसे सम्बन्धको जाननेमें तर्कका विशेष उपयोग है। तो अन्य प्रमाणसे यह सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया गया। जैसे कि तर्कज्ञान जान रहा है तो कथञ्चित गृहीत अर्थका ग्रहा करने वाला है तर्कज्ञान, फिर भी उस ग्रहण किए हुए अर्थके विषयोंमें किसी अपूर्व

बातका ही ज्ञान किया जा रहा है, इसलिए तर्कज्ञान प्रमाणरूप है। गृहीतका ग्रहण हुआ, इससे अप्रमाण नहीं होता, किन्तु गृहीतका उतने ही अंशोंमें उस ही रूपसे ग्रहण हो तो इसलिए धारावाही ज्ञान कहलाता है और अप्रमाणभूत है। यों तो रोज ही रोज-रोजके जाने गए पदार्थ ही जाने जाते हैं और जानकर उनमें प्रवृत्तिकी जाती है तो क्या रोज-रोज जो जाने जा रहे हैं परिचित हुए पदार्थ तो क्या वह ज्ञान अप्रमाण हो जाता है? जहाँ उपयोग विशेष बनता है वह ज्ञान गृहीत अर्थ जानकर भी प्रमाणभूत होता है।

तर्कज्ञानकी अपूर्वार्थग्राहिता व प्रमाणताका पुनः सयुक्तिक वर्णन इस प्रसंगमें तर्कज्ञानकी प्रमाणता और विधिके विषयमें यह भी समझना चाहिए कि जैसे हेतुके ज्ञानके बिना साध्यका ज्ञान नहीं होता, तो साध्यका ज्ञान हेतुके ज्ञानके आधीन बन गया है, किन्तु साध्यज्ञान द्वारा हेतुका ज्ञान न जाना जायेगा। जैसे धूमका ज्ञान होनेपर अग्निका ज्ञान बन गया तो अग्निके ज्ञान होनेमें धूमज्ञान कारण है, पर इसके मायने यह न हो जायेंगे कि अग्निज्ञानका विषय धूमज्ञान बन जाय। हेतु दो प्रकारके होते हैं, ज्ञायकहेतु और कारकहेतु। ज्ञायकहेतु तो कहलाता है तत्त्वको जना देने वाला हेतु और कारकहेतु कहलाता है उत्पत्तिका निमित्तभूत। साध्यका ज्ञान करानेमें अनुमान ज्ञान स्वतंत्र है और उस अनुमानकी उत्पत्ति हेतुज्ञानके आधीन है। तो इससे कहीं यह न हो जायेगा कि अनुमानका विषय हेतु ज्ञान बन जाये। जैसे यहाँ यह बात है वैसे ही यहाँ समझिये कि तर्कज्ञान और अनुपलम्भ द्वारा उत्पन्न हुआ। किसी सम्बन्धका बार-बार देखना अभ्यास आदिक कारणोंसे हुआ तो अब तर्कज्ञानमें यह हेतु बन रहे, पर इसके मायने यह न होंगे कि ये तर्कज्ञानके विषय बन जायें, या इनका विषय तर्कज्ञान बन जाये। प्रत्यक्ष तो तर्कज्ञानका उत्पादक कारण है, स्मृति भी तर्कज्ञानका उत्पादक कारण है, पर प्रत्यक्ष और स्मृति तर्कज्ञानके विषय नहीं बन सकते। तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और स्मृतिसे विलक्षण सम्बन्ध व्याप्तिका ज्ञान किया करता है, अतः तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्रहण करने वाला है और प्रमाणरूप है। यह नियम नहीं है कि जो जो जिसका, आत्मस्वरूपका कारण बने याने उत्पत्तिका कारण बने वह वह उसका विषयभूत बन जाय। जैसे हेतुज्ञानसे साध्यका ज्ञान होता है तो कहीं साध्यज्ञानका विषय हेतु ज्ञान नहीं बन जाता। अथवा चक्षुइन्द्रियसे रूपज्ञान होता है तो इसके मायने यह नहीं है कि उस प्रत्यक्षज्ञानका विषय नेत्र बन जाये। आँखसे देखा गया, पर देखनेसे आँख नहीं आती इससे तर्कज्ञान अन्य समस्त ज्ञानोंकी भाँति अपूर्व अर्थको ही ग्रहण करता है। यहाँ यह भी शंका न रखनी चाहिए कि विषय तो वह कारण कहलाता है जो अपने आकारका समर्पण करनेमें समर्थ होता। जैसे चाक्षुष प्रत्यक्षज्ञान आँखसे भी हुआ, पदार्थसे भी हुआ, लेकिन पदार्थ तो अपना आकार सौंप देता है ज्ञान को, चक्षु नहीं सौंपती, इस कारण जो अपना आकार सौंप सके वह कारण विषय होता है। इस कारण यहाँ यह दोष नहीं दे सकते कि चक्षुइन्द्रियसे प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो वह चक्षुको जान ले। समाधानमें कहते हैं कि ऐसा ही यहाँ भी समझ लेना चाहिए कि प्रत्यक्ष से, स्मृतिसे तर्कज्ञान उत्पन्न हुआ, प्रत्यक्षने और स्मृतिने अपना आकार तर्कको नहीं सौंपा, इस कारण प्रत्यक्ष

और स्मृति तर्कके विषयभूत नहीं हो सकते। अतः गृहीतको जाना तो तर्कज्ञानने पर गृहीतमें इस अपूर्व अर्थको ही जाना, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण रूप ही है प्रत्यक्ष और अनुमानकी तरह।

समारोपव्यवच्छेदक होनेसे तर्कज्ञानकी प्रमाणताकी पुष्टि सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष याने मति, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान इन तीन मतिज्ञानोंके अन्तर्भावी प्रमाणके वर्णनके पश्चात् यह तर्क प्रमाणका वर्णन चल रहा है। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है। क्योंकि वह समारोपका निराकरण करता है। समारोपका अर्थ है संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये तीन ज्ञानोंके दोष। जहाँ अनेक कोटिको छूता हुआ विचार चलता है वह संशय है। जैसे यह सीप है या चांदी, विपर्यय हो तो कुछ जान रहे विपरीत वह विपर्यय ज्ञान है। जैसे पड़ी तो सीप और जान गए चांदी। अनध्यवसाय पदार्थका जरा प्रतिभास हुआ, उसके बाद फिर उसका कुछ निर्णय न हुआ और आकांक्षा ही नहीं रहती और कुछ सा कुछ इतने मात्र ही प्रतिभास होकर रह गया वह है अनध्यवसाय। तो इन तीन दोषोंका निराकरण करनेसे तर्कज्ञानमें प्रमाणता आती है। वह अपने विषयमें परिपक्व ज्ञान है जैसे कि अनुमान ज्ञान। अनुमान ज्ञान समारोपका निराकरण करता है। अतएव प्रमाण है। तर्कज्ञानकी प्रमाणताके सम्बन्धमें एक यह भी तथ्य है कि जब कभी साध्य और साधनके विषयमें समारोप प्रकट हो जाय, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय जग जाय तब उस सम्बन्धमें तर्क प्रमाणके द्वारा निर्णय करनेसे प्रमाता पुरुषका समारोप दूर हो जाता है। तो यह तर्कज्ञान साध्य-साधनके सम्बन्धका यथार्थ निर्णय बनाता है। साध्य-साधन सम्बन्धमें कदाचित् समारोप लगे, संशय आदिक हों तो तर्कज्ञानसे ही उनका निराकरण हुआ करता है। इस कारण तर्कज्ञान पुष्ट प्रमाण है। तर्कज्ञानके प्रमाणमें अनेक युक्तियां कही गई हैं। निष्कर्ष यह समझना कि तर्कज्ञान सम्पादक है, अपूर्व अर्थका ग्रहण करने वाला है, संशय, विपर्यय, अनध्यवसायका निराकरण करने वाला है और वह प्रत्यक्ष और स्मृतिका कारण पाकर उत्पन्न हुआ है। तो मतिज्ञानके प्रकारोंमें इस प्रकारका जो तर्कज्ञान है वह निश्चित प्रमाण सिद्ध है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताके चार हेतुवोंका निर्देशन तर्कज्ञान प्रमाण है, सम्पादक होने से, प्रसिद्ध अर्थका साधन करने वाला होने से, समारोपका व्यवच्छेदक होने से, और प्रमाणभूत मतिज्ञानको कारण करके उत्पन्न होने से। यहाँ चार अनुमान बताये गए हैं। उनके चार हेतुवोंमें प्रथम हेतुका अर्थ यह है कि तर्कज्ञान सम्पादक है, क्योंकि तर्कज्ञानके विषयमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है, और उससे प्रवृत्ति, अर्थक्रिया, प्रयोजन सब सिद्ध होते देखे जाते हैं। दूसरा हेतु अप्रसिद्ध अर्थका साधक है, इससे यह स्पष्ट हुआ कि तर्कज्ञान अपूर्व अर्थका ग्राहक है, गृहीतग्राही नहीं है। यद्यपि अन्य प्रमाणोंके द्वारा गृहीत विषयको कारण बनाकर तर्कज्ञान होता है, मगर तर्कज्ञान उपयोग विशेष है और वह अपूर्व अर्थको ग्रहण करने वाला है, जिसको अन्य ज्ञान नहीं विषय करते। तृतीय हेतु है तर्कज्ञान संशय विपर्यय और अनध्यवसायका निराकरण करता है, क्योंकि तर्क है एक सर्वोत्कृष्ट युक्तियोंका समुदाय। वहाँ संशय आदिक दोष नहीं रह पाते। अब चौथे हेतुपर विचार करते हैं। तर्कज्ञान प्रमाणभूत है, मतिज्ञानका कारण पाकर हुआ है। यहाँ मतिज्ञान स्वयं तर्कज्ञान है अर्थात् तर्क प्रमाण

मतिज्ञानका भेद कहा गया। मति, श्रुत आदिक ५ ज्ञानों मेंसे मतिज्ञानके जो भेद इस सूत्रमें कहे जा रहे हैं, इनमें जो मति है वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है। तो तर्कज्ञानकी उत्पत्ति होनेमें कारण है सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा आदिक ये सब प्रमाण हैं, और इन प्रमाणभूत मतिज्ञानोंके कारणसे तर्क नामक मतिज्ञान हुआ है। तो जो प्रामाणिक कारणसे हुआ है वह ज्ञान (कार्य) प्रमाण ही हो सकता है।

यहाँ यह शंका न करनी चाहिए कि तर्कज्ञान तो स्वयं मतिज्ञान है। उसे मतिज्ञानके कारणसे उत्पन्न हुआ कहनेका क्या अर्थ? तो मतिज्ञानके अनेक भेद होते हैं, उनमेंसे किन्हीं भेदोंके कारणसे कोई ज्ञान बन जाता है। जैसे मतिज्ञानका प्रकार स्मरणज्ञान है जैसा कि सूत्रमें बताया ही गया है, वह स्मरणज्ञान मतिज्ञानकी धारणा नामक स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है। तो इसी तरहसे तर्क नामका मतिज्ञान भी मति स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, उपलम्भ और अनुलम्भ आदिक जो मतिज्ञानके प्रकार हैं उनके द्वारा उत्पन्न होता है। तो जो प्रमाणपूर्वक प्रमाण बनता है वह प्रमाण कहलाता है। तो यह तर्कज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, इस कारण प्रमाणभूत है। अब यहाँ शंकाकार कोई कहता है कि जो मतिज्ञानपूर्वक हो सो प्रमाण ही हो, ऐसा कोई नियम तो नहीं है। जैसे आगम श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक बताया गया है, लेकिन श्रुत आगम कोई प्रमाण नहीं है। इसके समाधानमें इतना ही समझना पर्याप्त है कि कौन कहता है कि आगम प्रमाण नहीं है? श्रुतज्ञान प्रमाण है। तो जो मतिज्ञानपूर्वक हुआ वह प्रमाण है, तर्कज्ञान मति स्मरण प्रत्यभिज्ञानपूर्वक हुआ है, अतएव वह प्रमाण है।

तर्कज्ञानकी प्रमाणताके विषयमें शंका समाधान अब यहाँ क्षणिकवादी शंका करते हैं कि जैसे हेतुज्ञानसे साध्यका ज्ञान होता है, अनुमान प्रमाण बनता है तो अनुमान प्रमाणकी सिद्धि जो हेतुज्ञानसे हुई उन दोनोंके सम्बंधकी सिद्धि जैसे तर्क द्वाराकी जा रही है तथा तर्कज्ञानका जो विषय है उसके साथ तर्कज्ञानके सम्बंधको उपलम्भ अनुपलम्भ बता देते हैं तब तर्कज्ञानको जाननेकी जरूरत क्या है? अथवा यह बतायें कि तर्कज्ञानने जो भी जाना उस विषयका ज्ञान क्या किसी अन्य प्रमाणसे हो सकता है? तर्कज्ञान अविनाभाव सम्बन्धको जानता है तो उसकी ज्ञप्ति प्रत्यक्षसे तो होती नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान पूर्वकी बातको नहीं जानता। प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प है, वह विचार नहीं करता और तर्कज्ञानसे जाने गए पदार्थका जो तर्कज्ञानसे सम्बन्ध है उसे अनुमान भी नहीं जानता। अगर किसी दूसरे तर्कसे जान लें तो अनवस्था हो जायेगी। फिर दूसरे तर्कका सम्बंध भी तीसरे तर्कसे जानना होगा। और सम्बंध जाने बिना तर्कज्ञानकी कीमत क्या है? ऐसे अनेक दोष आते हैं। फिर तर्कज्ञानको प्रमाण क्यों माना जा रहा है? उत्तर अति संक्षिप्त है। तर्कज्ञानके विषयका जो सम्बन्ध है उसे तर्कज्ञान स्वयं जान लेता है। ऐसी योग्यता प्रत्येक प्रमाणमें है कि हर एक ज्ञान अपने विषयको स्वयं जानता है। तर्कज्ञानके विषयको तर्क स्वयं जानता है और अन्य कोई जानता नहीं। प्रत्यक्षका विषय वर्तमान है, वह तर्कके विषयको नहीं जानता है और न प्रत्यभिज्ञान एकत्व और सादृश्यको जानता, पर जहाँ साधन है वहाँ साध्य होता है, इस सम्बन्धको तर्कज्ञान ही जाना करता है। इस

कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। कोई भी ज्ञान अपने सम्बंधको जाननेके लिए परमुखापेक्ष नहीं होता, हाँ उत्पत्ति अवश्य किसी प्रमाणकी परसे हुआ करती है।

प्रत्यक्षज्ञानकी तरह तर्कज्ञानकी स्वतन्त्र प्रमाणता तर्कज्ञान स्वतंत्र प्रमाण है प्रत्यक्षकी तरह। और जैसे प्रत्यक्ष अपनी योग्यताके बलसे अपना और अपूर्व अर्थका प्रकाश करने वाला है उसी प्रकार तर्कज्ञान भी योग्यताके बलसे अपना और अपूर्व अर्थका प्रकाश करने वाला है। प्रत्यक्ष जिस विषयको जानता है उस विषयको निरपेक्ष होकर जानता है। याने अपने विषयका सम्बंध है प्रत्यक्षके साथ, इसके प्रमाणके लिए अन्य ज्ञानके ढूँढनेकी आवश्यकता नहीं होती। यदि प्रत्यक्षके विषयका प्रत्यक्षके साथ सम्बंध बनानेके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा बने तो अनवस्था दोष हो जायेगा। यही बात तर्कज्ञानमें है। तर्कज्ञानका जो विषय है उसके साथ तर्कका सम्बंध बनानेके लिए अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं होती, अन्यथा यहाँपर भी अनवस्था दोष हो जायेगा। तर्कज्ञानको प्रत्यक्षकी तरह अपने विषय सम्बन्धके ग्रहणमें निरपेक्ष कहा है। अब जरा प्रत्यक्षकी यह विशेषता देखिये। इतना तो निश्चित है कि प्रत्यक्षका अपने विषयके साथ सम्बन्ध है, उसे ग्राह्य-ग्राहक भाव कह लीजिए याने प्रत्यक्ष तो ग्रहण करने वाला है और यह विषय ग्राह्य है या विषयविषयी भाव सम्बन्ध कह लीजिए अर्थात् प्रत्यक्ष तो विषयी है याने उस विषयका जाननहार है और वह पदार्थ विषय है या तदुत्पत्ति तदाकार जैसा सम्बन्ध कह लीजिए। कुछ भी सम्बन्ध हो, तो मानना ही पड़ता है।

अब यह बतायें कि उस सम्बंधका ग्रहण किसके द्वारा होता है? प्रत्यक्षज्ञानने जिसे जाना उसका सम्बंध है प्रत्यक्षके साथ, इस सम्बंधका ग्रहण करने वाला कौन है? विचार करो। अगर कहो कि प्रत्यक्ष और विषयके सम्बंधको जानने वाला दूसरा प्रत्यक्ष है तो उसका भी सम्बंध कौन जाने? तीसरा। यों अनवस्था दोष लगेगा। तो यहाँ विचार यह चल रहा है कि प्रत्यक्षके विषयका सम्बन्ध ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं स्वसम्वेदन सिद्ध है। सम्बन्ध तो है, विषयविषयी भाव तो है। अगर विषयविषयी भाव न हो तो प्रत्यक्ष अपने इस ही विषयको ग्रहण कर रहा है, यह निश्चय न बन सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्षका विषयके साथ यदि सम्बन्ध नहीं याने असम्बंधसे जान लिया तो कोई सा भी एक प्रत्यक्ष सर्वदेश सर्व कालके पदार्थोंको क्यों नहीं जान सकता? उन्हें भी जानने लगे। फिर कौन रोकेगा? इसलिए सम्बंध जानना तो आवश्यक है, पर उस सम्बंधको किसी ज्ञानसे ग्रहण किया जाये तब ही प्रत्यक्ष उसे जान सकेगा, यह बात नहीं है। वह तो स्वसंवेदन सिद्ध है।

प्रत्यक्षज्ञानके विषयकी प्रत्यक्ष संवेदनसिद्धताकी तरह तर्कज्ञानके विषयकी तर्कसंवेदनसिद्धता होनेसे तर्कज्ञानकी निर्वाध प्रमाणता स्वसंवेदनको न मानकर और ऐसी हठ करनेपर कि प्रत्यक्ष प्रमाणसे जिस विषयको जाना है उस विषयके साथ प्रत्यक्षके सम्बन्धको कौन जानता है? तो इसका उत्तर देनेपर अनेक दोष हैं। यदि अन्य प्रत्यक्ष जानता है तो अनवस्था दोष हो जायेगा। यदि अनुमानसे उस सम्बन्धको ग्रहण किया जाये तो भी अनवस्था दोष आता है। यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्षके विषयका सम्बन्ध है उसका ज्ञान स्वयं अपने प्रत्यक्षके स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो रहा है और

उसी प्रकार सम्बन्धकी कल्पना करती हुई प्रतीति होती है तो यह भी नहीं बनता। याने कोई भी प्रत्यक्ष स्वयं अपने आप तो सम्बन्धको नहीं जान रहा याने उस सम्बन्धको अलगसे जाननेकी आवश्यकता ही नहीं है। वह तो स्वसम्बेदन सिद्ध है। यह घट है, यह पुस्तक है आदिक प्रत्याकारक ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा स्वयं हो रहा है। इसमें सम्बन्ध तो नहीं प्रतिभासित किया जाता। सो स्वसम्बेदन सिद्ध होनेसे उस सम्बन्धका ग्रहण करानेके लिये उस ही प्रत्यक्षकी बात कहना युक्त नहीं। दूसरे प्रत्यक्षको ग्रहण करे तो अनवस्था है और कोई कहे कि अनुमानसे प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षके विषयके सम्बन्धको ग्रहण करना बन जायेगा, सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उस अनुमानकी भी तो स्थिति प्रत्यक्षके अधीन है। फिर उस प्रत्यक्षका सम्बन्ध बनावे वह अनुमानमें बनेगा, वह प्रत्यक्षके अधीन है। फिर अन्य प्रत्यक्षके विषयका सम्बन्ध बतावे तो यों अनवस्था दोष होगा।

वास्तविकता यह है कि प्रत्यक्ष अपने विषयभूत अर्थको अपने ही स्वसम्बेदनमें सिद्ध होता हुआ जानता है अर्थात् अपने ही द्वारा योग्य अर्थका ज्ञान करा देना, बस यह ही सम्बन्ध ग्रहण है प्रत्यक्षमें और इससे फिर कोई अतीन्द्रिय सम्बन्ध ही तो सिद्ध हुआ। जिसको इन्द्रिय द्वारा नहीं बताया जा सकता। प्रत्यक्षके ही स्वयंके स्वरूपसे सिद्ध है। तो इस अतीन्द्रिय सम्बन्धका ही नाम क्षयोपशम है। अपने अर्थको विषयको जाननेका जो स्वसंवेदन चल रहा है उसका कारण क्या है? लब्धिरूप अतीन्द्रिय सम्बन्ध है, उसीका नाम योग्यता है। तो जैसे इस क्षयोपशमरूप योग्यताके द्वारा प्रत्यक्षज्ञान स्वयं सम्बन्ध ग्रहण करता है याने जानता है, इस प्रकार क्षयोपशमरूप योग्यताके द्वारा तर्कज्ञान भी अपने विषयका संवेदन करता है। तो प्रत्यक्षज्ञान जैसे विषयभूत पदार्थको जाननेमें स्वतंत्र है, हाँ उत्पत्ति होनेमें इन्द्रिय आदिककी अपेक्षा होती है। इसी प्रकार तर्कज्ञान भी अपनी व्याप्ति सम्बन्धको ग्रहण करनेमें स्वतंत्र है। हाँ उसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष, स्मरण प्रत्यभिज्ञानसे हुआ करती है। प्रत्यक्ष प्रमाण अपने विषयमें सम्बन्धके ग्रहणकी अपेक्षा नहीं रखता और निरपेक्ष होकर प्रवृत्ति करता है अर्थात् अपने विषयको चाहे जब स्वयं जान लेते हैं, इसमें कारण योग्यता है। इस योग्यताके मिलनेपर यह इन्द्रियजन्य ज्ञान सीधे पदार्थको स्पष्ट जानता है।

अनुमान ज्ञानको भी अनुमेयज्ञप्तिमें परानपेक्षता, मात्र अनुमान प्रमाणकी उत्पत्तिमें परापेक्षता अब यहां शंकाकार कहता है कि देखो जैसे तर्कको अपने विषयके सम्बन्धमें ग्रहणकी अपेक्षा करनेकी आवश्यकता तो नहीं बतायी तो ऐसे ही अनुमान प्रमाण भी अपने ही आवरणके क्षयोपशमके कारण अपने विषयको जान ले, फिर अनुमानके विषयका सम्बन्ध ग्रहण करनेके लिए याने साध्य-साधनके सम्बन्धको ग्रहण करनेके लिए तर्कज्ञान माननेकी जरूरत क्या रही? इसके उत्तरमें कहते हैं कि शंकाकारका कहना तभी तक सुन्दर है जब तक उसपर विचार नहीं किया जा रहा। वास्तविकता यह है कि अनुमान प्रमाण भी अपने अनुमेय अर्थको जाननेके लिए अपनी योग्यतासे निरपेक्ष होकर जानता है, पर अनुमानका विषय साध्य-साधनके सम्बन्धको ग्रहण करना तो नहीं, केवल साधन देखकर साध्यका ज्ञान करना भर है, पर साधन देखकर साध्यका ज्ञान करनेकी बात तब ही बन पाती

है जब साध्य-साधनकी व्याप्तिका निश्चय हो। पर साध्य-साधन व्याप्तिका निश्चय करना अनुमानका विषय नहीं, तर्कज्ञानका विषय है। हाँ साध्यका ज्ञान करना अनुमानका विषय है और अनुमानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे हो जाता है, लेकिन उस अनुमानकी उत्पत्ति तो साध्य-साधनके सम्बन्धको ग्रहण करनेकी अपेक्षा बिना नहीं होती। कोई भी पुरुष जिसने साध्य-साधनका सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया उसको कभी भी अनुमानकी उत्पत्ति नहीं बनती। सो अनुमानकी उत्पत्ति होनेपर अनुमान द्वारा अनुमेय अर्थका स्वतंत्रतासे ज्ञान हो जाता है, लेकिन अनुमानकी उत्पत्ति स्वतंत्र नहीं है। कौन प्रमाण किस प्रमाणपूर्वक उत्पन्न होता है, इसका ज्ञान स्वयं इस ही सूत्रमें बताये गए मतिज्ञानके विशेषोंके क्रमको देखकर परखा जाता है।

इस सूत्रमें क्रम यह रखा गया है कि मति अर्थात् सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान उत्तरके ज्ञान पूर्व पूर्वज्ञान पूर्वक होते हैं, यह क्रम सूत्रमें कहे गए क्रममें पड़ा हुआ है। जैसे स्मरणज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, पहले प्रत्यक्षसे जाना हो उस ही का तो स्मरण बना करता है। प्रत्यभिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्ष और स्मरणपूर्वक होता है। किसीका प्रत्यक्ष किया था उसका स्मरण हुआ ओर वर्तमानमें कुछ प्रत्यक्ष किया जा रहा तो वर्तमानके प्रत्यक्षके विषयका स्मरणके विषयके साथ सम्बन्ध जोड़नेको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। तर्कज्ञान मति स्मृति और प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता है और अनुमान ज्ञान मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तो अनुमानमें जो व्याप्तिका सम्बन्ध है उसके ग्रहणकी तो जरूरत है, पर तर्कके विषयके सम्बन्धको ग्रहण करनेकी जरूरत नहीं। वह उस ही ज्ञानके द्वारा स्वसम्बेदनसे सिद्ध हो जाता है।

तर्ककी प्रमाणताके विषयमें कुछ शंकाओंका समाधान यहाँ शंकाकार कहता है कि तर्क तो प्रमाणके विषयका शोधक है। वह स्वयं प्रमाण नहीं है। प्रमाणके विषयका शोधकका अर्थ यह है कि जो अनुमान प्रमाणका विषय बनता है उस विषयका मार्ग साफ कराने वाला है। कहीं तर्क स्वयं प्रमाण न बन जायेगा इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह भी बड़े गजबकी बात कही जा रही है, प्रमाणके विषयमें बुद्धि होना वह बात अप्रमाणसे कैसे बनेगी? यदि प्रमाणके विषयकी बुद्धि अप्रमाणपर दे तो फिर मिथ्याज्ञानसे भी प्रमाणके विषयकी शुद्धि बन जाना चाहिए। इसपर शंकाकार कहता है कि यह कोई प्रसंग नहीं है। बात यह है कि जैसे संशयित पदार्थोंमें प्रमाणोंकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है उसी प्रकार तर्कित पदार्थोंमें भी प्रमाणोंकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है। जब कभी किसी विषयमें संदेह हो जाता है कि यह सीप है या चांदी या अन्य कुछ तो संशयज्ञान बन जानेपर अब उसमें दिमाग चलेगा, बुद्धि लगेगी, ज्ञान प्रमाणकी प्रवृत्ति बनेगी। तो संशयित अर्थमें जो प्रमाणकी प्रवृत्ति बनती है वह एक निर्णयके लिए ही तो बनती है, ताकि एक वास्तविक निर्णय बन जाये कि है क्या वस्तु? ऐसे ही जो तर्कके विषय हैं और जिन विषयोंमें अनेक प्रकारके संकल्प विकल्प उठ रहे हैं, उसमें प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होती है और निर्णयके लिए होती है। इससे तर्क कोई स्वतंत्र प्रमाण नहीं है, वह तो केवल प्रमाणके विषयका शोधक है।

इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि संशयित पदार्थोंका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करना कि तर्कित पदार्थोंमें भी प्रमाणोंकी प्रवृत्ति निर्णयके लिए होती है। तो इसके मायने यह हुए कि संशयज्ञान प्रमाणके विषयका साधक हैं, क्योंकि संशय हुआ। उसीमें दिमाग लगाकर एक निर्णय बनाया तो उस प्रमाण और निर्णय होनेका मूल आधार तो संशय रहा। तो यों संशय प्रमाणके अर्थका शोधक बना, यह बात सिद्ध हो गई। संशयज्ञान अप्रमाणताके लिए नहीं रहा, किन्तु वह तो प्रमाणके अर्थका साधक बन गया शंकाकारके इस मंतव्य में। तो जब इस तरह संशयित ज्ञानोंमें प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है और यों संशयज्ञान प्रमाणका साधक बन गया, ऐसे ही तर्कको भी प्रमाण मान लेना चाहिए, क्योंकि वह तो प्रमाणका शोधक है। जैसे अप्रमाणपनेसे संशयज्ञानकी व्यवस्था होना मानते, इसी प्रकार प्रमाणका साधक तर्कज्ञान है तो उसे भी प्रमाण मान लें, क्योंकि अब तो तर्कको संशयकी जाति वाला ज्ञान रख दिया, क्योंकि उसके लिए दृष्टान्त संशयज्ञानका बताया। और फिर संशयसे तर्क जुदा हो गया, क्योंकि उसके लिए दृष्टान्त संशयज्ञानका बताया। और फिर संशयसे तर्क जुदा हो गया, क्योंकि स्वयं वैशेषिकोंने यह माना कि मिथ्या ज्ञानके तीन भेद हैं संशय, विपर्यय और तर्क। तो अब और कितने पदार्थ माने जायें? पदार्थोंकी कोई संख्याकी व्यवस्था ही न रहेगी। अन्य-अन्य प्रकारसे पदार्थोंकी संख्या बन गई, क्योंकि पदार्थोंमें तर्कको गिनते नहीं और तर्क है संशय जातिका और किसी प्रकरणमें शंकाकारने तर्कको संशयसे जुदा लिखा तो एक तर्क भी पदार्थ बन गया ना, और-और भी बने। तो इससे सारी व्यवस्था रद्द हो जाती है। तो ऐसी उलझन दोष मिथ्या जालोंसे बचनेके लिए सीधा-सादा सिद्धान्त मान लेना चाहिए कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह प्रमाण करने योग्य कार्यका करने वाला है। प्रमाणका फल है प्रमाणसे निर्णय किया और उस निर्णयके अनुसार त्याग ग्रहण उपेक्षा आदिककी प्रवृत्तिकी तो इस विषयमें यह एक अनुमान प्रयोग है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि प्रमाणसे जो कर्तव्य है उसे करने वाला है। जैसे प्रत्यक्ष अनुमान आदिक पदार्थ। प्रमाण तो कर्तव्यके प्रत्यक्षका साधन है और उसका करने वाला तर्कज्ञान है, यह प्रसिद्ध है। तो इसलिए हेतु असिद्ध न रहा और इस हेतुमें अनैकांतिक दोष भी नहीं, क्योंकि जो प्रमाण नहीं हैं उनमें कर्तव्यकारिता भी नहीं है। अन्य प्रमेय घट पट आदिक जो अचेतन हैं और संशय आदिक जिन्हें प्रमाणके विषयका शोधक कह रहे हो, ये प्रमाणके विषयके साधक नहीं हैं, क्योंकि विरोध है। घट पट आदिक तो प्रमाणसे रहित ही हैं और संशय आदिक प्रमाणोंसे विपरीत हैं। तो इसमें प्रमाण कर्तव्य भी क्रिया नहीं बनती। इस कारण तर्कको अगर ऐसा साधक मानना चाहते हो कि वह प्रमाणके विषयका साधक है तो उसको इसका प्रमाणपना निश्चित मान लेना चाहिए।

प्रमाणानुग्राहक होनेसे तर्कमें प्रमाणताकी सिद्धि अब और भी तर्कके विषयमें प्रमाणताकी बात सुनो। तर्कज्ञान भले प्रकार प्रमाण है, क्योंकि वह उसी प्रकार ही अनुग्राहक होता है। जो प्रमाणोंका अनुग्राहक है वह प्रमाण है। तर्कज्ञान बिना अनुमान प्रमाण बनता नहीं। यों तर्कज्ञान अनुमान प्रमाणका अनुग्राहक है, इस कारणसे तर्क प्रमाण है। तर्कज्ञानमें अनुग्राहकता है और अनुग्राहकताकी

व्याप्ति प्रमाणसे है, इस कारण प्रमाण है। तर्कज्ञानमें अनुग्राहकता है और अनुग्राहकताकी व्याप्ति प्रमाणपनसे है, इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है। तो जिस प्रकारका अनुग्राहकपना तर्कमें देखा जा रहा, प्रमाणमें देखा जा रहा वह अनुग्राहकता प्रमाणभासोंमें नहीं होती। तो यह अनुमान और प्रत्यक्ष जैसे अनुग्राहक है, प्रमाण है, ऐसे ही अनुमानपर कृपा करने वाला तर्कज्ञान भी अनुग्राहक है और प्रमाण है। जिस अर्थमें जो प्रमाण पहलेसे ही प्रवृत्ति कर रहा है उसी विषयमें अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति हो जाये वही तो अनुग्राहकता कहलाती है। तो ऐसी अनुग्राहकता पहलेसे निर्णय किए हुए पदार्थकी अधिक दृढ़ता करा देनेसे कहा जाता है। जैसे तर्कज्ञान पहले प्रवृत्त हो रहा, अब उस सम्बंधमें अनुमान प्रमाणकी प्रवृत्ति चलने लगी तो तर्कज्ञानने अनुमान प्रमाणमें जान दे दी अर्थात् अनुमान प्रमाण सही ही है, मिथ्या नहीं है, इसका जताने वाला बन गया तर्कज्ञान। उत्तर ज्ञान प्रमाणभूत है, ऐसा निरखनेसे अपने आप सिद्ध होता है कि जिस प्रमाणके कारण यह उत्तर ज्ञान हुआ वह भी प्रमाणभूत है, क्योंकि पहले प्रमाणने उत्तर प्रमाणमें दृढ़ता ला दी। तो जो अनुमान प्रमाणको बहुत ठीक सिद्ध करना चाहता है तो उसपर अनुग्रह करने वाला तर्क प्रमाण है, उसे भी प्रमाण मानना चाहिए।

अव्यवहित स्वार्थका निश्चायक होनेसे तर्ककी प्रमाणता अब यहाँ कोई ऐसी आशंका कर सकता है कि तर्कज्ञान अलगसे प्रमाण तो हम नहीं मानते, किन्तु प्रमाणकी सामग्रीके भीतर आया हुआ मानते हैं और इस प्रकारसे प्रमाण द्वारा निर्णय चले आ रहे हैं, इसलिए सब प्रमाणोंकी सामग्रीमें तर्कज्ञान प्रतिष्ठित है और यह गौण प्रमाण है। जैसे वकीलके पिताको लोग वकील कह दते हैं, अब पिता वकालत पढ़ा है या नहीं, यह बात अलग है। नहीं भी पढ़ा है वकालत, फिर भी वकीलके पिताको वकील कहते हैं, एक ऐसा रिवाज है। तो ऐसे ही अनुमानका पिता है तर्कज्ञान, मायने साध्य-साधनके विषयका सम्बंध जब जान लेते तब प्रमाणकी उत्पत्ति होती है तो प्रमाणका जनक है, अनुमानका जनक है तर्कज्ञान। सो अनुमान प्रमाणके पिता तर्कको भी प्रमाण कह दिया जाता है। कहीं वह तर्क स्वतंत्र न्यारा पदार्थ नहीं है। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि यह बात तो बिना विचारे ही ठीक लग रही है। उसपर वस्तुतः विचार करें तो तर्क स्वयं प्रमाण है, यह सिद्ध हो जाएगा। उसका अनुमान प्रयोग यों है कि तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि अव्यवहित रूपसे स्वार्थका निश्चय करता है, और परम्परासे वह प्रकृष्ट उपकारक है। जैसे कि प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण है, वह क्यों है कि एक तो साक्षात् स्वार्थका निश्चय कराता है, अव्यवहित याने सीधा प्रत्यक्षका परिचय बनता है।

साक्षात् व परम्परया फलवान होनेसे तर्ककी प्रमाणता दूसरी बात यह है कि जैसे प्रत्यक्षज्ञानका फल साक्षात् अज्ञाननिवृत्ति व परम्परासे होने वाला त्याग, ग्रहण, उपेक्षा है, अतः प्रमाण है। इसी प्रकार तो जिस तरह प्रत्यक्ष प्रमाण बन गया उन्हीं कारणोंसे यह तर्क ज्ञान भी प्रमाण कहलाता है, क्योंकि तर्कज्ञान साक्षात् तो अपने विषयका ज्ञान करा रहा, साध्य और साधनके अविनाभाव सम्बन्धका बोध करा रहा, अज्ञान निवृत्ति हो गई, यह तो हुआ साक्षात् फल। अपने विषयका निश्चयरूप, और परम्परया फल है कि उससे स्वार्थानुमान बना, हेयमें हेयबुद्धि बनी, उपादेयमें

ग्रहणबुद्धि बनी। उपेक्षनीय तत्त्वमें उपेक्ष्यबुद्धि बनी। इस तरह तर्कज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, सबके काम आ रहा है। इस कारण तर्कज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह साधकतम है। पदार्थका निश्चय करानेमें एकमात्र साधन बन रहा है। जैसे कि अनुमान ज्ञान और अन्य ज्ञान प्रत्येक ज्ञानका साक्षात् फल है। अपने विषयभूत पदार्थके विषयमें अज्ञानको हटा देना और परम्परया फल है पुरुषार्थकी प्रवृत्ति बनना और उसके अनुसार छोड़ने योग्य हो तो छोड़ना, ग्रहण करने योग्य हो तो ग्रहण करना। जैसे जिस मार्गसे जा रहे उसीमें तेज धुवां दीखा तो अग्निका अनुमान किया, उससे हट गए, कभी जरूरत थी आग की, जाड़ेके दिन थे, धुवां दिखा तो उस ओर चले गए, अग्नि है, तापना चाहिए। तो तर्कसे जानकर पुरुषार्थकी प्रवृत्ति होती है। त्यागने योग्यको त्यागता है, ग्रहण करने योग्यको ग्रहण करता है। तो अनेक कारणोंसे दृष्टान्तपूर्वक यह प्रसिद्ध किया गया कि तर्कज्ञान प्रमाण है।

अनुमानप्रमाणकी प्रमाणताका प्रतिपादन अब अनुमान प्रमाणकी प्रमाणताके विषयमें कहते हैं। साधनसे साध्यका ज्ञान होना, इसे अनुमान कहते हैं। अनुमानज्ञान प्रधानरूपसे साध्यकी विधि करनेमें चरितार्थ है और गौणरूपसे साध्यसे विरुद्ध सब बातोंके निषेध करनेमें चरितार्थ है तथा इसके साथ यह भी समझना कि कोई अनुमान तो उपलब्धि हेतु द्वारा विधि सिद्ध करता है, कोई अनुमान उपलब्धि हेतु द्वारा निषेध सिद्ध करता है, कोई अनुमान अनुपलब्धिहेतु द्वारा साध्यकी विधि सिद्ध करता है और कोई अनुमान अनुपलब्धि द्वारा निषेधसिद्ध करता है। इस तरह मूलमें चार प्रकारके अनुमान होते हैं। इन सब अनुमानोंमें साध्य और साधन ये सही लक्षण वाले होने ही चाहिए। साधनका लक्षण है अन्यथानुपपत्ति अर्थात् साध्यके बिना साधनका होना। ऐसी यदि व्याप्ति पायी जाती है तो वह साधन सही साधन है, और साध्य होना चाहिए शक्य, अभिप्रेय और अप्रसिद्ध। अनुमान प्रमाणसे जिस बातको सिद्ध करना है उसको साध्य कहते हैं। तो साध्य शक्य है, जो सम्भव है, सिद्ध करने योग्य है वह तो शक्य कहलाता है। सो साध्य शक्य होना ही चाहिए। कोई अशक्य बातको साध्य करने लगे तो उससे लाभ क्या होता है? सिद्ध ही नहीं हो सकता।

दूसरी बात साध्यको इष्ट होना चाहिए। क्या कोई अपनी अनिष्टसिद्धिके लिए भी अनुमान करता है याने जो अपने सिद्धान्तसे विरुद्ध है, इष्ट नहीं है उसके लिए साध्य करे, ऐसा कोई नहीं होता। अन्यथा उसके लिए तो विरोध हो गया और दूसरे वादीके लिए वह भूषण बन गया। तो साध्य अभिप्रेत होना चाहिए। साथ ही साध्य अप्रसिद्ध होना चाहिए। जो प्रसिद्ध ही है, प्रत्यक्षसिद्ध ही है, ऐसी बातको सिद्ध करनेके लिए अनुमानकी क्या आवश्यकता है? अग्नि सामने है, गर्म है। अब अग्निको गर्म सिद्ध करनेके लिए कोई प्रलाप करे, युक्तियां दे तो उसका क्या अर्थ है? तो साध्य शक्य, इष्ट और अप्रसिद्ध होना चाहिए।

अनुमान ज्ञानका दूसरा नाम आभिनिबोध है। इस आभिनिबोधका क्या अर्थ है? अभि उपसर्ग है, नि यह भी उपसर्ग है और बोध यह एक धातु निर्मित शब्द है, जिसका अर्थ हुआ कि साध्यके अभिमुख होकर साधनके द्वारा जो नियत बोध होता है उसे आभिनिबोध कहते हैं। आभि मायने

अभिमुख, नि मायने नियत और बोध मायने ज्ञान। साधनका ज्ञान अनुमानको बनाने वाला होता है। केवल साधनभूत पदार्थके सद्भावनामात्रसे साध्यका ज्ञान नहीं होता, किन्तु साधनका कोई ज्ञान करे और साधन और साध्यका अविनाभाव सम्बन्ध समझे उसको ही साधनसे साध्यका ज्ञान हुआ करता है। निष्कर्ष यह है कि साधनका तो लक्षण है साध्यका अभाव होनेपर जो न हो ऐसे लक्षण वाला हेतु साधन कहलाता है और ऐसे साधनसे शक्य इष्ट अप्रसिद्ध साध्यका ज्ञान होता है, यह अनुमान है। तो अनुमान प्रमाणमें साध्यके ज्ञानकी अभिमुखता है और उसमें नियत सम्बन्धित ज्ञान बन गया है और वह सब हेतुके द्वारा बना है, इस प्रकार ऐसे ज्ञानको आभिनिबोध ज्ञान कहते हैं।

आभिनिबोधिक सामान्य व आभिनिबोधिक विशेषका कथन अब यहाँ शंकाकार कहता है कि आभिनिबोध ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञानका नाम दिया गया है सिद्धान्त ग्रन्थों में। जैसे ज्ञान ५ प्रकारके होते हैं आभिनिबोधित ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। अनेक सिद्धान्त ग्रन्थोंमें मतिज्ञानके एवजमें आभिनिबोधित ज्ञान शब्द दिया है। षट्षंडागम सूत्रमें भी आभिनिबोधित शब्द दिया है और यहाँ कहा जा रहा है अनुमान को। अनुमान तो याने स्वार्थानुमान जो यहाँ आभिनिबोधित शब्दसे कहा जा रहा है वह तो मतिज्ञान सामान्यका याने आभिनिबोधित ज्ञानका एक विशेष है, फिर यहाँ आभिनिबोधित शब्द क्यों दिया? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि प्रकरणके विशेषसे और अन्य शब्द चूँकि और दिए गए हैं, इससे सामान्य शब्दका विशेष अर्थमें भी प्रवृत्ति हो जाती है। इस सूत्रमें मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, इतने शब्द दिए हैं और उस ही धारामें आभिनिबोध शब्द दिया है, जिसका यह अर्थ होता है कि ये ५ ज्ञान मतिज्ञानके विशेष हैं याने आभिनिबोध ज्ञानके विशेष हैं। इससे यह समझना कि जिसके ३३६ भेद बताये गए हैं वह आभिनिबोधिक ज्ञान तो सामान्य मतिज्ञान जानना चाहिए। और जब अवग्रह आदिक मतिज्ञानके विशेषोंको कहा जाये, स्मृति आदिक कहा जाय तब पृथक्से जो आभिनिबोधिक शब्द दिया जाये तो उससे स्वार्थानुमान अर्थ लेना चाहिए। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय और मनके द्वारा नियमित कुछ साध्य अर्थके प्रति अभिमुख ज्ञानका आभिनिबोधिक नाम है। यह तो हुआ एक सामान्य अर्थ और साधनकी अपेक्षा रखकर मनके द्वारा जो साध्य अर्थके अभिमुख होकर नियमित परिचयमें आभिनिबोधिक है यह हुआ स्वार्थानुमानका अर्थ।

शंकाकार द्वारा हेतुका लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व न मानकर त्रैरूप्य माननेका प्रस्ताव अब शंकाकार शंका करते हैं कि अभी जो हेतुका लक्षण कहा गया है कि अन्यथानुपपत्ति जिसमें हो वह साधन है और ऐसे साधनसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान है और इस ही को आभिनिबोध शब्दसे कहा गया है, यह अर्थ सही नहीं है। कारण कि लिंगका याने साधनका लक्षण अन्यथानुपपत्ति नहीं है, किन्तु उसके तीन रूप हुआ करते हैं पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति। याने जो हेतु पक्षमें रहे उसे कहते हैं पक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु सपक्षमें रहे उसे कहते हैं सपक्षसत्त्व लक्षण वाला हेतु, जो हेतु विपक्षमें न रहे उसे कहते हैं विपक्षव्यावृत्ति लक्षण वाला हेतु, याने जैसे एक अनुमान

प्रयोग किया कि यहाँ पर्वतमें अग्नि है धूम होने से। जहाँ-जहाँ धूम होता वहाँ अग्नि है, जैसे रसोईघर। और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाब। तो इस प्रयोगमें पक्ष तो है पर्वत, सपक्ष है रसोईघर और विपक्ष है तालाब। तो धूम पर्वतमें है, धूम रसोईघरमें है और धूम तालाबमें नहीं है, तालाब विपक्ष है, उसमें नहीं है। तो ऐसे तीन रूप मिल जायें, उस हेतुसे साध्यका ज्ञान होना अनुमान कहलाता है।

अन्यथानुपपन्नत्व न होनेपर त्रैरूप्यके सद्भावमें भी हेतुपना न होनेसे त्रिरूपताके हेतुलक्षणत्वका निराकरण अब उक्त शंकाका समाधान देते हैं कि साधनका त्रिरूप लक्षण बनाना युक्त नहीं है, क्योंकि लक्षण वह बनाया जाता है जिसमें कोई प्रकारका दोष न आये। मगर यह लक्षण तो हेत्वाभासमें भी सम्भव है और सच्चा हेतु हो, कहो और उसमें घटित भी न हो, इस कारणसे त्रिरूपता साधनका लक्षण नहीं है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि देखो यह एक अनुमान बनाया जाये कि बुद्ध; असर्वज्ञ है, क्योंकि वक्ता है, पुरुष है। तो ऐसा कोई अनुमान बनाये तो देखो वक्तापन, पुरुषपन बुद्धमें है ना, तो पक्षसत्त्व मिल गया और अनेक लोकमें है ना वक्तापन और पुरुषपन। रास्तागीर हो, कोई हो तो लो सपक्षसत्त्व मिल गया और जो असर्वज्ञ नहीं है याने सर्वज्ञ है उसमें वक्तापन नहीं है जैसे मुक्त जीव, तो ऐसा हेतु सही तो नहीं मान सकता शंकाकार, क्योंकि उसके ही इष्टका घात हो जायेगा और यदि यह कहो कि पक्ष तो मिल गया, सपक्ष सत्त्व भी मिल गया, मगर विपक्ष व्यावृत्तिका संदेह है तो उसका अर्थ यह ही तो हुआ कि साध्य जहाँ न हो वहाँ हेतु व्यावृत्ति हो जाय तब हेतु है, इसका ही भाव है कि अन्यथानुपपत्ति हो तो हेतु है। यदि त्रैरूपमात्र हेतुका लक्षण कहते हो तब तो सदोष है और कहो कि विशिष्ट त्रैरूप्य हो तो विशिष्टका अर्थ किया है अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपत्ति सहित हो तो तीन रूप माननेकी आवश्यकता क्या? और अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो तीन रूप भी तुम सिद्ध न कर सकोगे। सर्वज्ञ भी वक्ता हो सकता है। सशीर परमात्माकी दिव्यध्वनि खिरती है तो इतना तो हो गया कि पक्ष धर्मत्व हो, सपक्षसत्त्व हो तो वह हेतु सही नहीं कहलाता। विशिष्ट विपक्षव्यावृत्ति हो तब हेतु सही है, उसीका अर्थ है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब सही है। अब यह विषय अलग है कि अमुक सर्वज्ञ हो सकता या नहीं, उसका प्रमाण फिर उसके वचन याने शासनकी मीमांसापर निर्भर है। जहाँ पूर्वापर विरोध नहीं, युक्तियोंपर विरोध नहीं, ऐसे वचन जिसके हों उसे कह सकते हैं कि यह सर्वज्ञ है, यह विषय अलग है, पर प्रसंगवश यह बात कही जा रही है कि अन्यथानुपपत्ति हो तब तो वह हेतु सही है और अन्यथानुपपत्ति नहीं तो वह हेतु सही नहीं हो सकता।

त्रिरूपताका सद्भाव होनेपर, अन्यथानुपपन्नत्व न होनेपर हेतुत्वका अभाव तथा त्रिरूपताका अभाव होनेपर भी अन्यथानुपपन्नत्व होनेसे हेतुत्वका सद्भाव होनेके कुछ उदाहरण और भी दृष्टान्त देखिये जिससे त्रिरूपता भंग हो जाती है। जैसे कोई कहे कि यह बालक ब्राह्मण है, क्योंकि माता-पिता ब्राह्मण हैं, लोकदृष्टिसे बात तो सही है, अनुमान ठीक है, मगर यहाँ पक्ष सत्त्व तो है ही नहीं याने पक्ष मनाया गया इस लड़केको और हेतु दिया गया माता-पिता ब्राह्मण हैं, तो माता-पिताका ब्राह्मणत्व

लड़केमें तो नहीं आया। माता-पिताका ब्राह्मणत्व माता-पितामें ही है। अच्छा और भी उदाहरण सुनो एक अनुमान बनायें कि यह जीवित शरीर आत्मासहित है, क्योंकि श्वासोच्छ्वास आदिक होने से। तो अब यहाँ कोई ऐसी व्याप्ति करके दृष्टान्त ढूँढें कि जिस जिसमें श्वासोच्छ्वास होता है वह आत्मासहित होता है तो उदाहरण तुम क्या दोगे? जिसको उदाहरणमें दोगे वह तो पक्षमें ही बना हुआ है, सभी जीवित शरीर आत्मासहित हैं। अब सपक्ष क्या मिलेगा? तो देखो सपक्षसत्त्व नहीं है फिर भी हेतु ठीक है। अच्छा एक ऐसा कोई दृष्टान्त दे, कहे कि कालूरामका गर्भस्थपुत्र काला है क्योंकि कालूरामका लड़का होने से। अब कालूरामके दो-चार लड़के थे वे सब काले थे तो पक्षमें भी गया, सपक्ष भी मिला, मगर हेतु क्या सही है? क्या यह निर्णय है कि अबकी बारका लड़का काला ही होगा और जैसे पेटमें तो सभी लड़के काले होते ही नहीं, चाम तो बादमें काला होता है। तो मतलब यह है कि त्रिरूपता हो तो क्या, न हो तो क्या? अगर साधन अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाला है तब तो अनुमान सही है और साधनमें अन्यथानुपपत्ति नहीं है तो साधन सही नहीं है।

अव्याप्ति अतिव्याप्ति दोषोंके होनेसे त्रैरूप्यमें हेतुलक्षणत्वकी असिद्धि किसी पदार्थके विषयमें पहले तो सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है। इन्द्रिय और मनसे कोई पदार्थ परिचय बनता है। वह प्रत्यक्ष यदि धारणा तक चला गया तो धारणा हुए बाद फिर भविष्यमें उसकी स्मृति बनी। भूतकालमें जो परिचय किया था। उसका अब स्मरण हो रहा है और मति और स्मरण दोनोंके बलपर प्रत्यभिज्ञान जगता है। अब यहाँ दो मतियोंके बीचमें स्मरण है पहले जो अनुभव किया था वह भूतकालमें मतिज्ञान हुआ था और अब वर्तमानमें उसीका या उसे प्रतियोगीका प्रत्यक्ष हो रहा है वह। और उस बीच स्मरण चल रहा है तो ऐसा वर्तमान मति और भूतका स्मरण इन दो ज्ञानों पूर्वक प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है। प्रत्यभिज्ञान जग गया, इसके मायने यह है कि धारणा और स्मृति उसकी दृढ़ है और तत्पूर्वक प्रत्यभिज्ञान बनाता है, ऐसा दृढ़ ज्ञान जिसके है वह पुरुष प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न करता है। प्रत्यभिज्ञान हुए बाद तर्कज्ञान होता है, क्योंकि तर्कज्ञान समस्त देश, समस्त काल विषयक साध्य-साधनका ज्ञान होता है, तो यहाँ साधनके स्वरूपकी बात चल रही है। साधन कहलाता है वह जो साध्यके अविनाभाव रूपसे निश्चित हो। इसके विरोधमें क्षणिकवादी यह कह रहे हैं कि साधनका लक्षण तो त्रिरूपता है पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति। उसके समाधानमें यह सब कथन चल रहा है कि यह त्रिरूपता हेतुका लक्षण नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें अव्याप्ति, अतिव्याप्ति ऐसा आता है। इसके अनेक उदाहरण दिए गए।

पक्षधर्मत्व न होनेपर भी अन्यथानुपपन्न हेतुकी समीचीनता एक उदाहरण और भी देखिये किसीने अनुमान किया कि कलके दिन मंगलवार होगा, क्योंकि आज सोमवार होने से। तो हेतु तो है सोमवार होनेसे और पक्ष है कल, तो कलमें सोमवार हेतु तो नहीं चलता है। पक्षधर्मत्व तो रहा ही नहीं। तो पक्षधर्मत्व नहीं होता, लेकिन साध्यके अविनाभाव रूपसे निश्चित हेतु हो वह वास्तविक साधन है। अब यहाँ शंकाकार पक्षधर्मत्वकी रक्षाके लिए अनुमानका एक रूप बनाता है। तो देखो जहाँ

पक्षधर्मत्व नहीं दिखता, जैसे अनुमान बनाया कि कल मंगलवार होगा तो उसे यों बनाइये कि कल दुनियामें मंगलवार होगा अर्थात् दुनिया कलके दिन मंगलवारसे सहित बनेगी, क्योंकि आजका दिन सोमवारसे सहित है। तो लो दुनिया पक्ष हो गया और उसमें सोमवार सहितपना हेतु हो गया।

समाधान यह है कि इस तरहके शब्दका सोच-विचारकर जबरदस्तीपना लादा जाये तब तो कुछ भी गलत-सलत अनुमान बन जायेगा। जैसे कोई यह बता दे कि धूम अग्नि वाला है धूमपना होनेसे, तो पक्ष क्या है? धूम और उसमें धूमत्व हेतु चला गया तो इसका अर्थ ही क्या रहा? यह तो व्यभिचारी हेतु है। धूम हेतुमें संयोग सम्बन्ध करके अग्नि तो नहीं है। दूसरी बात यह है कि अनुमान प्रयोग करनेसे यह सब स्वभाव हेतु बन जायेगा। जो कार्य हेतु और अनुपलम्भ हेतु और बचा हुआ है वह भी इसी ढंगसे पक्षका स्वभाव या साध्यका स्वभाव बन जायेगा, तब तो हेतु भी कुछ न रहे। एक स्वभाव हेतु रह गया। इससे जो संक्षिप्त सुगम निर्दोष लक्षण हो उससे मुख न मोड़ना चाहिए।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि नियत हो रहा जो अन्यथानुपपत्ति सहितपना वह सम्बन्धरूप व्यापकसे व्याप्त हो रहा है, उस सम्बन्धके न होनेपर भी अन्यथानुपपत्ति माना जाय तब तो बड़े दोष आवेंगे, क्योंकि सम्बन्ध जहाँ नहीं है, ऐसे आकाश और पुष्पका या आत्मा और रूपका अन्यथानुपपत्ति बन बैठेगा, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिको तो सम्बन्ध बिना मान डाला, और अगर सम्बन्ध मानते हो तो सम्बन्ध तो दो प्रकारके हैं-एक तादात्म्य और दूसरा तदुत्पत्ति। जहाँ तादात्म्य और तदुत्पत्ति सम्बन्ध नहीं, सोमवार, मंगलवारके बीच कोई सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध नहीं तो अन्यथानुपपत्ति नहीं। तो कोई भी हेतु न बना अलग। भावार्थ यह है कि सोमवारका होना यह गमक तब होता जबकि वह ज्ञायकहेतु होता और ज्ञायकहेतु तब होता जब उसमें अन्यथानुपपत्ति होती। और अन्यथानुपपत्ति तब ठहरती जब सम्बन्ध ठहरता, और सोमवार होनेरूप हेतुमें सम्बन्ध तब ठहरता जब कि तादात्म्य या तदुत्पत्ति ऐसा कोई सम्बन्ध होता। तो जब ये बातें नहीं ठहर रहीं। व्यापक रह रहा तो व्याप्य कैसे रहेगा? इस प्रकार सोमवारका होना, साध्यका मंगलका ज्ञायक नहीं हो सकता।

समाधान इसका यह है कि सम्बन्ध तो कोई संयोगको ही नहीं कहता है। यहाँ तो अन्यथानुपपत्तिका सम्बन्ध है। सोमवारके हुए बिना मंगलवार नहीं आता, बस यही सम्बन्ध है। अनुमान तो सही है, पर पक्षधर्मत्व नहीं है, इसलिए हेतुकासी का लक्षण मानना कि जो साध्यके बिना न हो और पाया जाये तो समझो कि साध्य जरूर है। जैसे अग्निके बिना धुवां नहीं होता और धुवां मिल जाये तो समझो अग्नि जरूर है। इस तरह अनुमानका लक्षण सही है, और विशेष जानना हो तो परीक्षामुखसूत्र आदिक ग्रन्थोंमें समझना चाहिए। अनुमान एक प्रमाण है और उससे परलोक, स्वर्ग, आत्मा, धर्म, मोक्षमार्ग आदिक सभी प्रायोजनिक तत्त्वोंकी सिद्धि होती है। तो साधनका लक्षण त्रैरूप्यपना नहीं सिद्ध होता। इसी प्रकार जो दार्शनिक हेतुका लक्षण पांच्यरूप मानते हैं उनका भी कथन युक्त नहीं है, पांच्यरूपमें जो दो रूप बढ़ाये गए हैं वह एक नासमझ जनोंको समझानेके लिए है। उसकी कोई खास विशेषता नहीं है। वह तो समझानेका एक प्रकरण बढ़ाना है।

तथोपपत्ति व अन्यथानुपपत्ति लक्षण वाले हेतुके सम्बन्धमें होनेके कारण अर्थापत्ति संभव आदिके माननेकी अनावश्यकता अब यहाँ मीमांसक दर्शन वाला शंका करता है कि अर्थापत्ति भी तो एक न्यारा प्रमाण है और वह अस्पष्ट है। सो प्रत्यक्ष प्रमाणरूप नहीं, परोक्ष प्रमाण है। और जो इस सूत्रमें परोक्ष प्रमाण बताया गया है प्रत्यक्ष, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध और इनके अतिरिक्त बताया जायेगा आगम तो इसमें अर्थापत्तिका अन्तर्भाव नहीं है। इससे अर्थापत्ति अवश्य माननी चाहिए। अर्थापत्ति प्रमाणसे व्यवहार भी चल रहा है अर्थात् किसी बातको देखकर अन्य बातकी समझ बनना, यह अर्थापत्ति कहलाती है। प्रत्यक्ष आदिक किसी भी प्रमाणसे भली प्रकार कोई पदार्थ जान ले। अब वह विपरीत नहीं हो रहा है। उससे दूसरे अदृष्ट अर्थकी कल्पना जग जाती है। उसीका नाम अर्थापत्ति प्रमाण है। प्रत्यक्षसे जो जान लिया और उससे अविनाभाव रूपसे जो पदार्थ है उसके द्वारा अदृष्ट अर्थका ज्ञान बने यह तो है प्रत्यक्षपूर्वक अर्थापत्ति। जैसे किसी विधवा स्त्रीका उदर बड़ा दीखा गर्मयोग्य तो उससे व्यभिचार दोष दृष्ट तो नहीं होता, मगर एक अर्थापत्ति द्वारा अदृष्ट अर्थका ज्ञान कर लिया, इसी तरह अनेक बातें देखकर अनेक अदृष्टकी पहिचान बनती है, वही तो अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति है। अनुमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। सूर्य चन्द्रमा गति सहित हैं, क्योंकि वे एकदेशसे अन्य देशको पहुंच जाया करते हैं। सूर्य चन्द्रमा गति शक्तिसे सहित हैं, क्योंकि उनका गमन होता है। इस अनुमानसे गमनशक्ति का, अतीन्द्रिय शक्तिका जो ज्ञान हुआ वह अर्थापत्तिसे हुआ, ऐसे ही उपमानपूर्वक भी अर्थापत्ति होती। जैसे उपमानसे तो जान लिया कि यह रोझ है गायकी तरह देखकर, अब उस रोझमें अतीन्द्रिय शक्तिका ज्ञान करना, यह अर्थापत्ति हो गई। शब्द अमुक अर्थका प्रतिपादन करनेकी शक्ति रखता है, क्योंकि अर्थके साथ सम्बंधपना तब ही बनता है। तो यहाँ भी एक शब्दमें प्रतिपादनकी शक्तिका परिचय किया जा रहा है। तो यों अर्थापत्ति आगम प्रमाण हुआ करती है। ऐसा कहना चाहिए। अर्थापत्ति तो इतना प्रबल पुष्ट प्रमाण है कि वह अभावके परिचय द्वारा भी अर्थापत्ति बनती है। जैसे देवदत्त कहीं बाहर ठहरा हुआ है, क्योंकि जीवित रहते संते इस घरमें नहीं है। तो तो इस अनुमानमें भी देवदत्तका बाहर रहनेमें अर्थापत्ति बनी।

समाधान अर्थापत्तिको सिद्ध कर इतना परिश्रम करना व्यर्थ है, वह तो हेतुका ही रूपक है। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये कोई तो साधनके रूप हैं और यह ही अर्थापत्तिमें समझा गया है। इसी प्रकार कोई सम्भव आदिक ज्ञानोंको भी बताने लगे तो ये सबके सब एक अविनाभावी हेतुमें ही सम्भव हो जाते हैं, इस कारण परोक्ष प्रमाण दो प्रकारके कहे गए हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। और मतिज्ञानके ये ५ भेद हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। इन्हींमें प्रतिभा, स्वानुभूति, स्मृति, प्रज्ञा आदिक सबका संग्रह बन जाता है। ये भेद दो उपलक्षण रूपसे हैं। इन्हींकी जातिके जो और भी ज्ञान होते हों वे सब इन्हींमें ही सम्मिलित हैं। इस तरह “आद्देपरोक्षम्” इस सूत्रमें जिन दो ज्ञानोंको परोक्ष कहा था, इनमेंसे प्रथम मतिज्ञानके मूल भेदका वर्णन किया गया है।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन सप्तम् भाग समाप्त ॥